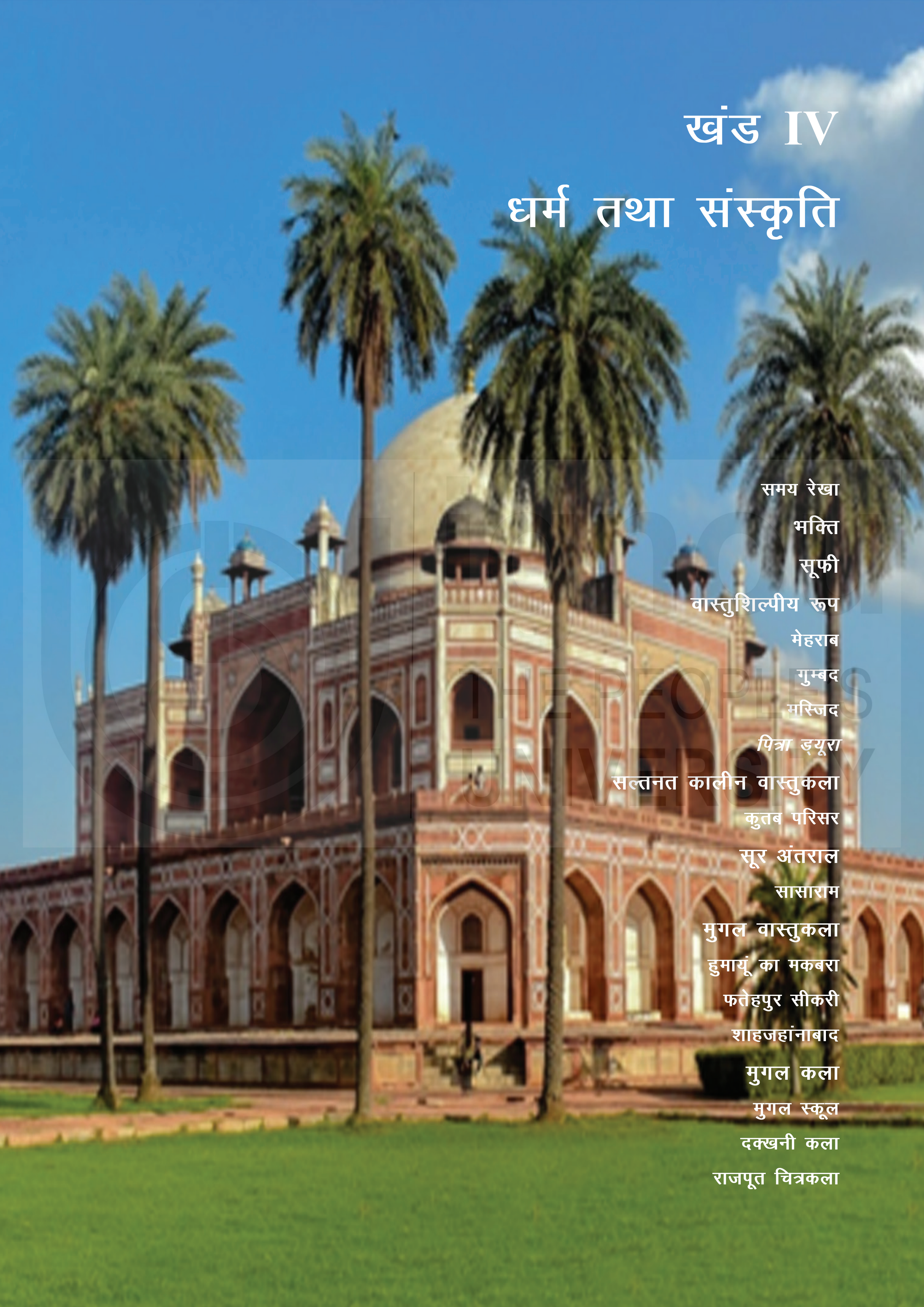

खंड IV
धर्म तथा संस्कृति

समय रेखा
भक्ति
सूफी
वास्तुशिल्पीय रूप
मेहराब
गुम्बद
मस्जिद
पित्रा ड्यूरा
सल्तनत कालीन वास्तुकला
कुतब परिसर
सूर अंतराल
सासाराम
मुगल वास्तुकला
हुमायूं का मकबरा
फतेहपुर सीकरी
शाहजहांनाबाद
मुगल कला
मुगल स्कूल
दक्खनी कला
राजपूत चित्रकला

THE PEOPLE'S UNIVERSITY

हुमायूँ का मकबरा

साभारः Humayun’s Tomb, Delhi, India 2019. Jpg from Wikimedia Commons by Eatcha, CC-BY 4.0

स्रोतः https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/c/c5/Humayun%27s_Tomb%2C_Delhi%2C_India_2019.jpg

इकाई 16 भक्ति और सूफ़ी परंपराएँ*

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

16.3 उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन

16.4 भक्ति आंदोलन का उदय

16.4.1 भक्ति आंदोलन के उदय के राजनीतिक कारण

16.4.2 सामाजिक-आर्थिक कारण

16.5 प्रमुख लोकप्रिय आंदोलन और उनकी विशेषताएँ

16.5.1 उत्तर भारत का एकेश्वरवादी आंदोलन

16.5.2 समान स्वरूपगत विशेषताएँ

16.5.3 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन

16.5.4 बंगाल में वैष्णव भक्ति आंदोलन

16.5.5 महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन

16.5.6 अन्य प्रदेशों में भक्ति आंदोलन

16.6 सूफ़ी मत की विशेषताएं

16.7 भारत में सूफ़ी मत का विकास

16.8 भारत में सल्तनत काल के दौरान सूफ़ी सिलसिले

16.8.1 सुहरावर्दी *सिलसिला*

16.8.2 चिश्ती *सिलसिला*

16.8.3 नक्शबंदी *सिलसिला*

16.8.4 अन्य सूफ़ी *सिलसिले*

16.8.5 महदवी आंदोलन

16.9 चिश्ती *सिलसिले* की लोकप्रियता के कारण

16.10 सूफ़ी और भक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय

16.11 सारांश

16.12 शब्दावली

16.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.14 संदर्भ ग्रंथ

16.15 शैक्षणिक वीडियो

***प्रो. आर. पी. बहुगुणा, इतिहास तथा संस्कृति विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली और डॉ. फिरदौस अनवर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली। यह इकाई इग्नू के पाठ्यक्रम ई एच आई-03: *भारत 8वीं सदी से 15वीं सदी तक,* खंड 8, इकाई 29 और इकाई 30; और ई एच आई-04: *भारत 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य तक,* खंड 7, इकाई 29 से ली गई है।**

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि को रेखांकित कर सकेंगे,
- उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के प्रमुख राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक कारकों को पहचान सकेंगे,
- इस आंदोलन के प्रमुख संतों और प्रमुख लोकप्रिय शाखाओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे,
- सूफ़ी मत की विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे,
- दिल्ली सल्तनत के दौरान भारत में इसके विकास को रेखांकित कर सकेंगे,
- भारत में चिश्ती सिलसिले की लोकप्रियता के कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- महदवी आंदोलन के चरित्र और दर्शन पर प्रकाश डाल सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

एक धार्मिक अवधारणा के रूप में भक्ति का अर्थ है, मोक्ष की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत तौर पर पूजे जाने वाले सर्वोच्च ईश्वर के समक्ष भक्तिपूर्ण आत्मसमर्पण। इस सिद्धांत का उद्‌भव प्राचीन भारत की ब्राह्मणवादी और बौद्ध दोनों परंपराओं में ढूंढा जाता है, इनका मूल *गीता* जैसे ग्रंथों से भी संबंध है। पर पहली बार दक्षिण भारत में 7वीं और 10वीं शताब्दी के बीच भक्ति धार्मिक सीमाओं से निकलकर धार्मिक समानता के जन आंदोलन में परिणित हो गई। इसमें समाज के विभिन्न तबकों ने हिस्सा लिया। संतों और कवियों के नेतृत्व में आंदोलन आगे बढ़ा और 10वीं शताब्दी में यह अपने सर्वोच्च शिखर पर जा पहुंचा। इसके बाद इसकी अवनति आरंभ हो गई। परन्तु 11वीं शताब्दी में घुमक्कड़ साधु-संतों/आचार्यों ने इसे दार्शनिक और वैचारिक आंदोलन के रूप में पुनर्जीवित किया। रामानुजाचार्य से इस परंपरा की शुरुआत हुई। 13वीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ एक विशाल क्षेत्र में फैले विभिन्न प्रकार के सामाजिक-धार्मिक आंदोलन की शुरुआत हुई। भक्ति आंदोलन के रूप में जाना जाने वाला यह आंदोलन देश के कोने-कोने में फैल गया। इन आंदोलनों को दक्षिण भारत के पुराने भक्ति आंदोलन से जोड़ा जाता है। पर सल्तनत काल में पनपने वाला भक्ति आंदोलन अपने समय की उपज था, इसका ऐतिहासिक संदर्भ अलग था, और इसकी कुछ खास विशेषताएं थीं। उनमें से एक निराकार एकेश्वरवादी आंदोलन, जिसके अगुवा कबीर और 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जाति' के अन्य संत थे, को छोड़कर निश्चित रूप से यह पारंपरिक भक्ति आंदोलन से बिल्कुल अलग ढंग का था इनमें केवल कुछ ऊपरी समानताएं थीं। इसका सामाजिक आधार, इसकी विचारधारा, इसके नेताओं का सामाजिक आधार और यहां तक कि भक्ति और ईश्वर संबंधी इनकी अवधारणा प्राचीन दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन और समकालीन अन्य आंदोलनों से भिन्न थी। भक्ति आंदोलन की विभिन्न शाखाओं के बीच इस कदर अंतर है (कहीं-कहीं आधारभूत अंतर भी है) कि इन पर अलग-अलग विचार करना जरूरी है। इससे इनकी विशेषताओं को अलग-अलग पहचानने में सुविधा होगी और हम उनके बीच की समानता और असमानता को समझ सकेंगे।

इस्लाम में विभिन्न रहस्यात्मक प्रवृत्तियों और आंदोलनों को सूफ़ीमत या *तसव्वुफ़* के नाम से जाना जाता था। इस्लाम में व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित रहस्यवादिता के माध्यम से ईश्वर और व्यक्ति के बीच सीधा संपर्क स्थापित करने की बात की जाती है। प्रत्येक धर्म अपने विकास के क्रम में कभी न कभी इस रहस्यवाद का सहारा अवश्य लेता है। इस दृष्टि में सूफ़ी संत *कुरान* की पवित्रता की भावना पर आधारित इस्लाम का स्वाभाविक विकास है। सूफ़ी संत *शरीयत* को स्वीकार करते थे, पर वे परंपरा से चली आई आराधना पद्धति में बंधकर नहीं रहे, बल्कि उन्होंने ऐसी पद्धति विकसित की, जिसका उद्देश्य भगवान से सीधा तादात्म्य स्थापित करना था। इस इकाई में हम सूफ़ी मत की मुख्य विशेषताओं और भारत में इसके प्रसार पर विचार-विमर्श करेंगे।

जब इस्लाम भारतीय उपमहाद्वीप में आया तो उस समय बौद्ध धर्म अपना वर्चस्व खो चुका था। ब्राह्मणवाद धर्म बौद्ध धर्म के सिद्धांतों और आर्यों के पूर्व की प्रथाओं को समेटकर अपनी स्थिति मजबूत करने की कोशिश कर रहा था। हालांकि इस्लाम यहां के लिए बिल्कुल नई विधा थी पर इसने अपने सार्वभौम, बंधुत्व और मानव समानता के सिद्धांतों की सहायता से भारतीयों को प्रभावित किया। ताराचंद के शब्दों में, 'केवल हिंदू धर्म, हिंदू कला, हिंदू साहित्य और हिंदू विज्ञान में ही मुस्लिम तत्व समाहित नहीं हुए बल्कि हिंदू संस्कृति और हिंदू विचारधारा में भी परिवर्तन हुआ और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन के प्रति मुसलमान भी आकृष्ट हुए इस प्रकार आदान-प्रदान की प्रक्रिया शुरू हुई।' अलबरूनी, अमीर खुसरो, अबुल फ़ज़ल, दारा शिकोह, आदि मुसलमानों ने हिंदू धर्म को समझने की कोशिश की और हिंदू धर्म के संदर्भ में उन्होंने मुसलमानों की समझ को विकसित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया। उन्होंने संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया। फ़िरोज़ शाह तुगलक, कश्मीर के ज़ैनुल आबिदीन, सिकंदर लोदी, अकबर, और जहांगीर आदि ने इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मिर्ज़ा जान जानान जैसे विद्वानों ने 18वीं शताब्दी में राम और कृष्ण को 'पैगंबर' के रूप में घोषित कर दिया।

इस प्रकार धर्म, खासकर भक्ति और सूफ़ी, के क्षेत्रों में दो महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की झलक इस काल में मिलती है। आगे आने वाले भागों में हम इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

16.2 दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

7वीं और 10वीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत के शैव नयनार संतों और **वैष्णव** अलवर संतों ने जाति और लिंग का भेद किए बिना समाज के हर एक तबके में भक्ति के सिद्धांत का प्रचार किया। इनमें से कुछ संत महिलाएं थीं और कुछ 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' का भी प्रतिनिधित्व करते थे। इन संत कवियों ने भावनात्मक स्वर में भक्ति का प्रचार किया और धार्मिक समतावाद को बढ़ावा दिया। उन्होंने अनुष्ठानों का बहिष्कार किया और घूम-घूमकर नाच-गाकर भक्ति का प्रचार किया। अलवर और नयनार संत भक्ति का प्रचार और भक्ति गीतों की रचना संस्कृत में नहीं बल्कि तमिल में किया करते थे। इन कारणों से यह आंदोलन बड़ा लोकप्रिय हुआ। पहली बार भक्ति को जनाधार प्राप्त हुआ।

दक्षिण भारत के भक्ति संत बौद्धों और जैनों के आलोचक थे। बौद्धों और जैनों को उस समय दक्षिण भारतीय राजाओं का संरक्षण प्राप्त था और दरबारों में उन्हें एक विशेष हैसियत प्राप्त थी। बौद्ध और जैन धर्म में अब तक कुछ संकीर्ण और रूढ़िवादी तत्व प्रवेश कर चुके थे। अतः उन्होंने बौद्ध और जैन धर्म के अनेक अनुयायियों को अपनी (भक्ति की) ओर आकर्षित किया। इसके साथ-साथ भक्ति संत कवियों ने कट्टर ब्राह्मणों के अस्तित्व को चुनौती दी और भक्ति को सबके लिए सुलभ बनाया, बिना किसी जाति अथवा लिंग के भेदभाव के। दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन की अपनी कुछ सीमाएं थीं। इसने कभी भी सामाजिक स्तर पर ब्राह्मण धर्म की वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था का प्रयत्नपूर्वक विरोध नहीं किया। जाति व्यवस्था अभी भी धर्म से जुड़ी थी और 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' को अभी भी सामाजिक असमानताओं का बोझ ढोना पड़ रहा था। ब्राह्मणवादी अनुष्ठान, जैसे मूर्ति पूजा, वैदिक मंत्रों का उच्चारण और तीर्थस्थलों की यात्रा, अभी भी कायम थे, जबकि भक्ति को पूजा का सर्वश्रेष्ठ तरीका बताया जा रहा था। इन्होंने बौद्धों और जैनों पर मुख्य रूप से आक्रमण किया, ब्राह्मण इनकी आलोचना से मुक्त रहे। शायद यही कारण है कि दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के प्रसार में ब्राह्मणों के प्रभुत्व वाले मंदिरों की प्रमुख भूमिका रही।

चूंकि दक्षिण भारत के संत-कवियों ने जाति व्यवस्था के वैचारिक और सामाजिक आधार पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया, परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के दौरान जाति व्यवस्था कमजोर होने के बजाय मजबूत हुई। अंततः यह आंदोलन 10वीं शताब्दी में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा और शनैः शनैः परंपरागत ब्राह्मण धर्म में विलीन हो गया। इन सीमाओं के बावजूद अपने उत्कर्ष काल में दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन ने धार्मिक समानता के सिद्धांत का प्रचार किया, परिणामस्वरूप ब्राह्मणों को 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' को पूजा का अधिकार देना पड़ा। ये 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियां' पूजा के माध्यम के रूप में भक्ति को अपना सकती थीं और यहां तक कि *वेद* का अध्ययन करने का अधिकार भी इन्हें प्राप्त हो गया।

भक्ति और दक्षिण भारतीय *आचार्य*

जब दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की लोकप्रियता क्षीण हो रही थी, तब कई विद्वान ब्राह्मणों (*आचार्यों*) ने दार्शनिक स्तर पर भक्ति का समर्थन किया। इसमें पहले *आचार्य* रामानुज (11वीं शताब्दी) थे। उन्होंने भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया। उन्होंने कट्टर ब्राह्मणवाद और लोकप्रिय भक्ति आंदोलन, जिसके द्वार सबके लिए खुले थे, के बीच सावधानी से संतुलन कायम किया। हालांकि 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' द्वारा *वेद* पढ़ने के सिद्धांत का उन्होंने समर्थन नहीं किया, पर इस बात को स्वीकार किया कि भक्ति को पूजा की पद्धति के रूप में सबको, यहां तक कि शूद्रों और अस्पृश्यों को भी, अपनाने का अधिकार होना चाहिए। भक्ति का प्रचार करते समय उन्होंने जाति का बंधन स्वीकार नहीं किया और यहां तक कि अस्पृश्यता को समाप्त करने की कोशिश की। एक तेलुगु ब्राह्मण निंबार्क, रामानुज के समकालीन माने जाते हैं। उन्होंने अपना अधिकांश समय उत्तर भारत में मथुरा के निकट वृंदावन में बिताया। वे राधा और कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण में विश्वास रखते थे। दक्षिण के एक अन्य वैष्णव भक्ति दार्शनिक थे माधव, इनका काल 13वीं शताब्दी का माना जाता है। रामानुज के पथ का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी शूद्रों द्वारा *वेदों* को न पढ़ने की परंपरा को तोड़ने की कोशिश नहीं की। उनके अनुसार भक्ति ने शूद्रों को पूजा का एक विकल्प प्रदान कर दिया। उनका दर्शन *भागवत् पुराण* पर आधारित था। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण भी किया था। वैष्णव *आचार्यों* की श्रृंखला में अंतिम दो *आचार्य* रामानंद (14वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 15वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) और वल्लभ (15वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 16वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) उल्लेखनीय हैं। चूंकि इन्होंने अपना अधिकांश जीवन सल्तनत काल के दौरान उत्तर भारत में बिताया और वैष्णव भक्ति को एक नया रूप प्रदान किया। इसलिए इन पर उत्तर भारत वाले अंश में विस्तार से विवेचना की जाएगी।

16.3 उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन

सल्तनत काल (13-15वीं शताब्दी) के दौरान उत्तरी और पूर्वी भारत तथा महाराष्ट्र में कई लोकप्रिय सामाजिक-धार्मिक आंदोलन उभरे। इन आंदोलनों ने भक्ति और धार्मिक समता पर जोर दिया। जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलन में भी यह विशेषताएं शामिल थीं। सल्तनत काल के दौरान होने वाले सभी भक्ति आंदोलनों का संबंध एक या दूसरे दक्षिण भारतीय वैष्णव *आचार्य* के साथ रहा है। इन्हीं कारणों से कई विद्वान यह मानने लगे हैं कि सल्तनत काल में पनपे भक्ति आंदोलन पुराने भक्ति आंदोलन की कड़ी थे या वह पुनर्जीवित हो उठे थे। उनका तर्क है कि विभिन्न संपर्क और लेन-देन में इन दोनों में एक दार्शनिक और वैचारिक समानता है। अतएव, यह माना जाता है कि उत्तर भारत के निरीश्वरवादी एकेश्वरवादी आंदोलन से जुड़े कबीर और अन्य संत रामानंद के शिष्य थे और रामानंद रामानुज के दार्शनिक सिद्धांत के अनुयाई थे। यह भी माना जाता है कि बंगाल के वैष्णव आंदोलन के महत्वपूर्ण संत चैतन्य, माधव के दार्शनिक मत के अनुयाई थे। 'कृष्ण' भक्ति पर जोर देने के कारण इस आंदोलन का संबंध निंबार्क संप्रदाय से भी जोड़ा जाता है।

निस्संदेह दक्षिण भारत की अपेक्षाकृत पुरानी भक्ति परंपरा और सल्तनत तथा मुगल काल में पनपे धार्मिक आंदोलन में कुछ महत्वपूर्ण समानताएं हैं। अगर हम कबीर, नानक और 'वर्णाप्रथम के अनुसार निम्न जातियों' के अन्य संतों के एकेश्वरवादी आंदोलनों को अलग कर दें, तो दोनों आंदोलनों (दक्षिण और उत्तर) में कई सामान्य विशेषताएं रेखांकित की जा सकती हैं। मसलन, दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलनों में समतावादी धर्म की तो वकालत की गई, पर जाति व्यवस्था को कभी नकारा नहीं गया, ब्राह्मण ग्रंथों और ब्राह्मण विशेषाधिकारों को कभी चुनौती नहीं दी गई।

परिणामस्वरूप, दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलनों के समान उत्तर भारत के अधिकांश वैष्णव आंदोलन अंततः ब्राह्मण धर्म में विलीन हो गए, पर इस प्रक्रिया में ब्राह्मण धर्म में भी कई परिवर्तन आए। पर इसके आगे दोनों आंदोलनों में कोई समानता नहीं है। भक्ति आंदोलन कभी भी एक आंदोलन नहीं रहा, इन आंदोलनों को एक दूसरे से जोड़ने वाला सूत्र भक्ति और धार्मिक समता का सिद्धांत था। मध्यकालीन भारत का भक्ति आंदोलन अपेक्षाकृत पुराने दक्षिण भारतीय आंदोलन से विशिष्ट ही नहीं था, बल्कि इन आंदोलनों की अपनी-अपनी निजी विशेषताएं थीं। इन सभी आंदोलनों

की अपनी क्षेत्रीय पहचान थी और इनका अपना सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आधार था। अतएव लोकप्रिय एकेश्वरवाद पर आधारित निरीश्वरवादी आंदोलन निश्चित रूप से विभिन्न वैष्णव भक्ति आंदोलनों से भिन्न था। कबीर की भक्ति की अवधारणा और चैतन्य या मीराबाई जैसे मध्यकालीन वैष्णव संतों की भक्ति की अवधारणा में आधारभूत अंतर था।

वैष्णव आंदोलन के अंतर्गत भी महाराष्ट्र प्रदेश की भक्ति बंगाल के वैष्णव आंदोलन से भिन्न थी, इसी प्रकार उत्तर भारत के रामानंद, वल्लभ, सूरदास और तुलसीदास के भक्ति आंदोलन का अपना अलग स्वरूप था। कुछ समय बाद एक-एक संतों और मतों को लेकर अलग-अलग संप्रदाय खड़े हो गए, इन संप्रदायों में आपसी संघर्ष हुआ करता था और कभी-कभी यह संघर्ष हिंसक भी हो जाया करता था। 14वीं और 17वीं शताब्दी के बीच पनपे सभी भक्ति आंदोलनों में कबीर, नानक, सूरदास और अन्य 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न छोटी जातियों' के संतों के नेतृत्व में हुए लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन मूलतः अन्य से अलग और विशिष्ट थे।

लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन और वैष्णव भक्ति आंदोलन

उत्तर भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना और इस्लाम के आगमन के बाद ये दोनों आंदोलन एक साथ उभरे। अतएव, यह कहा जाता है कि दोनों आंदोलनों के उद्‌भव में कुछ समान कारण कार्यरत थे, हिंदू धर्म पर इस्लाम का प्रभाव इनमें से एक है। पर यथार्थ यह है कि दोनों आंदोलनों के उदय के कारण और स्रोत ही अलग नहीं हैं, बल्कि उन पर जिन कारकों का प्रभाव पड़ा वे भी बिल्कुल एक दूसरे से विपरीत हैं। आगे आने वाले विचार-विमर्श से यह स्पष्ट हो जाएगा कि एक आंदोलन के मूल में कार्यरत शक्तियों के आधार पर दूसरे आंदोलनों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलनों का उदय और उत्कर्ष सल्तनत काल में हुआ, जबकि वैष्णव आंदोलनों की शुरुआत तो सल्तनत काल में हुई, पर मुगल काल में जाकर वे अपने उत्कर्ष पर पहुंचे।

16.4 भक्ति आंदोलन का उदय

उत्तर भारत में 14वीं-17वीं शताब्दी के बीच उदित भक्ति आंदोलन, जिससे काफी संख्या में लोग प्रभावित हुए, के उदय के अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक कारण थे। इस भाग में हम इन्हीं बातों पर विचार-विमर्श करेंगे।

16.4.1 भक्ति आंदोलन के उदय के राजनीतिक कारण

यह माना जाता है कि तुर्कों के आक्रमण के पहले उत्तर भारत के सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र पर राजपूत-ब्राह्मण गठबंधन का वर्चस्व था, जो किसी भी प्रकार के गैर-ब्राह्मण आंदोलन के सख्त खिलाफ थे। अतः उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन अपनी जड़ें नहीं जमा सका। तुर्कों के आक्रमण के बाद इस गठबंधन का वर्चस्व समाप्त हो गया। तुर्कों के आक्रमण के साथ इस्लाम का भी आगमन हुआ और इससे ब्राह्मणों की शक्ति और प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचा। इस प्रकार निरीश्वरवादी आंदोलनों के उदय का रास्ता साफ हो गया, इन आंदोलनों ने जाति-विरोधी और ब्राह्मण विरोधी सिद्धांत अपनाए। ब्राह्मण हमेशा जनता को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करते रहते थे कि मंदिर में रखी प्रतिमाएं और मूर्तियां मात्र ईश्वर की प्रतीक नहीं है, बल्कि साक्षात् ईश्वर हैं और इन्हें केवल वे (ब्राह्मण) ही प्रसन्न कर सकते हैं। तुर्कों ने ब्राह्मणों से उनके मंदिर का धन छीन लिया और उन्हें प्राप्त होने वाला राज्य संरक्षण समाप्त हो गया। इस प्रकार ब्राह्मणों को आर्थिक और वैचारिक दोनों स्तरों पर हानि उठानी पड़ी। राजपूत-ब्राह्मण गठबंधन की क्षीण होती शक्ति के कारण पहला निरीश्वरवादी पंथ नाथपंथी के रूप में उभरा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पंथ सल्तनत काल के आरंभ में अपने उत्कर्ष पर था। ब्राह्मणों की शक्ति और प्रभाव के क्षीण होने और नई राजनीतिक परिस्थिति के कारण लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलनों और उत्तर भारत के अन्य भक्ति आंदोलनों के उदय के लिए एक माहौल तैयार हो गया।

16.4.2 सामाजिक-आर्थिक कारण

यह भी माना जाता है कि मध्यकालीन भारत का भक्ति आंदोलन सामंती शोषण के खिलाफ आम जनता के मनोभावों का प्रतिनिधित्व करता है। इस बात की पुष्टि के क्रम में कबीर, नानक, चैतन्य,

तुलसी आदि की उन कविताओं को उद्धृत किया जाता है जिसमें सामंत-विरोधी स्वर काफी तीव्र हैं। इसी परिपेक्ष्य में भारतीय मध्यकालीन भक्ति आंदोलनों की तुलना यूरोप के प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन से की जाती है। पर भक्ति संतों की कविताओं में कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता है कि उन्होंने सामंती व्यवस्था के राजस्व-शोषण के खिलाफ किसानों के वर्ग हित का समर्थन किया था। वैष्णव भक्ति संत कट्टर ब्राह्मणवादी परंपरा से इसी मायने में अलग थे कि वे भक्ति और धार्मिक समता की बात करते थे। सामान्य तौर पर वे कट्टर ब्राह्मण धर्म के अनेक आधारभूत सिद्धांतों को स्वीकार करते थे। अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील एकेश्वरवादी संतों ने ब्राह्मण धर्म की कटु आलोचना की, पर उन्होंने भी कभी भी राज्य और शासक वर्ग को उखाड़ फेंकने की बात नहीं की। इसलिए भारतीय भक्ति आंदोलन की तुलना यूरोपीय प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन से नहीं की जा सकती है जिसने समाज को इस कदर बदल डाला कि सामंतवाद के पतन और पूंजीवाद के उदय के लिए एक माहौल तैयार हो गया।

इसका यह मतलब नहीं है कि भक्ति संत जनता के दुःख-दर्द से बिल्कुल अछूते थे। उन्होंने हमेशा अपने को जनता के दैनिक जीवन से जोड़कर रखा और इस बात की पूरी कोशिश की कि आम जनता की तकलीफों को उजागर किया जाए और उनसे जुड़ कर रहा जाए।

आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन

कबीर, नानक, धन्ना, पीपा आदि संतों के एकेश्वरवादी आंदोलन की व्यापक लोकप्रियता को व्याख्यायित करने के लिए उत्तर भारत में तुर्कों के आगमन के बाद आए सामाजिक-आर्थिक बदलावों को परखना होगा। तुर्कों का शासक वर्ग राजपूतों की तरह गांव में नहीं शहरों में रहता था। कृषि अधिशेष का अधिकांश हिस्सा शासक वर्ग के खजाने में पहुंच जाता था। इस वर्ग ने उपभोक्ता वस्तुओं, विलासिता के सामान और अन्य जरूरत के सामानों की मांग बहुत बढ़ा दी। इस कारण से शिल्प की नई तकनीकों का बड़े पैमाने पर विकास हुआ। फलस्वरुप 13वीं-14वीं शताब्दियों में शहरी शिल्पकारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई।

समृद्ध होता हुआ शहरी वर्ग एकेश्वरवादी आंदोलन की ओर आकर्षित हुआ, क्योंकि यह धार्मिक समता की बात करता था, और अब वे परंपरागत ब्राह्मणवादी व्यवस्था में प्राप्त अपने निम्न स्थान से संतुष्ट नहीं थे। इसी कारण से पंजाब के खत्री जैसे व्यापारिक समुदाय, जिन्हें शहरों के विकास, शहरी शिल्प के उत्पादन और बाजार के विकास से इस वर्ग को काफी फायदा हुआ था, इस आंदोलन की ओर तेजी से खिंचे। समाज के ऐसे अनेक वर्गों के समर्थन के कारण ही एकेश्वरवादी आंदोलन इतना लोकप्रिय हो सका। समाज के इन्हीं विभिन्न वर्गों ने उत्तर भारत में हो रहे इस आंदोलन को सामाजिक आधार प्रदान किया। पंजाब में यह आंदोलन शहरी वर्गों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने जाट किसानों को भी प्रभावित किया और इसका आधार विस्तृत हुआ। गुरु नानक के आंदोलन को जाट किसानों का समर्थन मिलने के बाद सिख धर्म एक जन-धर्म के रूप में विकसित हुआ।

16.5 प्रमुख लोकप्रिय आंदोलन और उनकी विशेषताएँ

इस भाग में हम अपने अध्ययन काल के दौरान उत्तर भारत, महाराष्ट्र और बंगाल में हुए प्रमुख एकेश्वरवादी और वैष्णव आंदोलनों की चर्चा करेंगे।

16.5.1 उत्तर भारत का एकेश्वरवादी आंदोलन

15वीं शताब्दी के दौरान शुरू होने वाले एकेश्वरवादी आंदोलनों में निस्संदेह कबीर (*c.* 1440-1518) प्रथम और सर्वप्रमुख शख्सियत थे। वे बुनकरों (जुलाहों – वह स्वदेशी समूह जिसने इस्लाम धर्म अपना लिया था) के एक परिवार से संबंधित थे। कबीर ने अपनी जिंदगी का अधिकांश हिस्सा बनारस (काशी) में बिताया। कबीर के बाद के एकेश्वरवादी संतों ने या तो उन्हें अपना गुरु माना या वे उनका नाम आदर से लेते थे। उनके 'शबद' सिख धर्म ग्रंथ ***आदि ग्रंथ*** में काफी बड़ी संख्या में संगृहीत हैं। इससे एकेश्वरवादियों के बीच उनके महत्व का पता चलता है। रैदास या रविदास कबीर के बाद की पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे जाति से चर्मशोधक (चमड़े का कार्य करने वाले) थे। उन्होंने भी बनारस में अपना जीवन बिताया और वे कबीर के

विचारों से प्रभावित थे। धन्ना का काल 15वीं शताब्दी है। राजस्थान के एक जाट किसान परिवार में उनका जन्म हुआ था। इस काल के अन्य संतों में सेन (नाई) और पीपा महत्वपूर्ण हैं। दादू (लगभग 1544-1603) भी कब़ीर के सिद्धांतों से प्रभावित थे। दोहों और कविताओं के अपने संग्रह *बाणी* में उन्होंने अल्लाह, राम और गोविंद को अपना गुरु माना है। दादू के ब्रह्माण्ड ज्ञान और आत्मा की आध्यात्मिक शुद्धि यात्रा जैसे विचारों पर सूफ़ी प्रभाव दिखाई पड़ता है। 18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन के बाद दादू **पंथ** नागाओं या पेशेवर लड़ाकुओं में तब्दील हो गया।

सिख धर्म

गुरु नानक (1469-1539) ने भी कबीर और अन्य एकेश्वरवादियों के समान ही अपने मत का प्रचार किया, पर कई कारणों से उनकी शिक्षा से बाद में एक जन आधारित धर्म, सिख धर्म, का उदय हुआ। कबीर और अन्य संतों के साथ उनकी शिक्षा में आधारभूत समानता है और साथ ही वैचारिक स्तर पर भी आधारभूत समानता के कारण नानक एकेश्वरवादी आंदोलन से खुद-ब-खुद जुड़ जाते हैं। उनका जन्म पंजाब के एक खत्री परिवार में हुआ था। उनके जन्म स्थान को अब ननकाना साहिब के नाम से जाना जाता है। प्रौढ़ वय प्राप्त कर लेने के बाद अपने मत का प्रचार करने के लिए उन्होंने खूब यात्राएं कीं। अंत में उन्होंने पंजाब में एक जगह पर अपना डेरा बसा लिया, इसे डेरा बाबा नानक के नाम से जाना जाता है। यहां उनके शिष्यों में तेजी से वृद्धि हुई। उनके 'शबदों' को 1604 में सिख गुरु अर्जन देव ने *आदि ग्रंथ* में संकलित किया।

भारतीय दर्शन और विचारधारा में गुरु नानक के उपदेश और दर्शन का विशेष महत्व है। उनके दर्शन में तीन तत्व प्रमुख हैं : मार्गदर्शन आकर्षक व्यक्तित्व (*गुरु*), विचारधारा (*शबद*) और संगठन (*संगत*)। गुरु नानक ने प्रचलित धार्मिक विचारों का मूल्यांकन और आलोचना की और एक सच्चे धर्म की स्थापना करने का प्रयास किया जो उन्हें मुक्ति की ओर ले जा सकता था। उन्होंने मूर्ति पूजा का विरोध किया, तीर्थ स्थानों की यात्रा का समर्थन नहीं किया और न ही अवतारवाद के सिद्धांत को माना। उन्होंने ईष्ट के साकार रूप (formalism) और अनुष्ठानवाद का भी विरोध किया। उन्हें ईश्वर की एकता पर विश्वास था और उनका मानना था कि मुक्ति के लिए एक सच्चे *गुरु* का होना आवश्यक है। उन्होंने लोगों को आचार और पूजा के सिद्धांतों का पालन करने को कहा: *सच*, *हलाल* (lawful earnings), *खैर* (दूसरों की भलाई), *नीयत* (उचित मंशा) और ईश्वर की सेवा।

नानक ने जाति प्रथा की भी भर्त्सना की और इससे पैदा होने वाली असमानता का भी विरोध किया। उनके अनुसार किसी व्यक्ति के व्यवहार और कार्यों के आधार पर जाति और सम्मान निर्धारित होना चाहिए। वे मनुष्य के सार्वभौमिक बंधुत्व की धारणा तथा पुरुष और नारी की समानता में विश्वास रखते थे। उन्होंने नारी मुक्ति की दिशा में भी काफी प्रयत्न किए और सती-प्रथा का विरोध किया। नानक ने ब्रह्मचर्य और शाकाहारिता का समर्थन नहीं किया। उन्होंने न्याय, न्यायोचितता और स्वतंत्रता जैसी अवधारणाओं पर बल दिया। नानक के पदों में मुख्य रूप से दो अवधारणाएं शामिल हैं: *सच* और *नाम*। *शबद* (शब्द), *गुरु* (दैवीय निर्देश) और *हुक्म* (ईश्वर का आदेश) ईश्वरीय आत्माभिव्यक्ति के आधार हैं। उन्होंने *कीर्तन* और *सत्संग* पर भी बल दिया। उन्होंने सांप्रदायिक भोज (*लंगर*) की शुरुआत की।

ताराचंद के अनुसार नानक पर सूफियों का प्रभाव विशिष्ट महत्व रखता है। नानक और बाबा फरीद के पदों में विचारों की समानता देखी जाती है। इन दोनों में निष्ठापूर्ण समर्पण और एकेश्वर के प्रति समर्पण का भाव मिलता है। पर इसी के साथ-साथ गुरु नानक ने ऐश्वर्यपूर्ण जिंदगी व्यतीत करने के लिए सूफियों की आलोचना भी की। गुरु नानक ने हिंदुओं और मुसलमानों को एक करने की कोशिश की और निश्चित रूप से उन्होंने अपने उपदेशों में हिंदू धर्म और इस्लाम की आधारभूत अवधारणाओं को शामिल करने की कोशिश की। सिखों के धार्मिक ग्रंथ *गुरु ग्रंथ साहब* का संकलन गुरु अर्जन ने किया था। दसवें *गुरु*, गुरु गोबिंद सिंह, की मृत्यु के बाद ईश्वरीय तत्व दूसरे *गुरु* को हस्तांतरित नहीं हुआ, बल्कि यह *ग्रंथ* और संप्रदाय के लोगों में समाविष्ट हो गया।

ये गुरु मुख्य रूप से खत्री, व्यापारिक जाति के थे और उनके अनुयाई मुख्य रूप से ग्रामीण जाट थे। गुरु गोबिंद सिंह ने सिखों के बीच *खालसा* (बंधुत्व) का प्रतिपादन किया। सिख संप्रदाय के

अंतर्गत खत्री और अरोड़ा के साथ-साथ जाट भी शामिल हैं। रामगढ़िया सिख के रूप में जाने, जाने वाले शिल्पकार और अनुसूचित जाति से सिख धर्म में परिवर्तित लोग सिख पंथ के अन्य समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। सिख पंथ में जातिगत चेतना अस्तित्व में थी, पर इसका महत्व अधिक नहीं था।

16.5.2 समान स्वरूपगत विशेषताएँ

एकेश्वरवादी आंदोलन से जुड़े सभी संतों की शिक्षा में कुछ समानताएं हैं, जिसके कारण इस आंदोलन में एक आधारभूत साम्य दिखाई पड़ता हैः

i) अधिकांश एकेश्वरवादी 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जातियों' के थे और वे इस बारे में सजग थे कि इनके विचारों में समानता है। इनमें से ज्यादातर एक दूसरे के मतों और प्रभावों की जानकारी रखते थे। वे अपने पदों और दोहों में एक दूसरे का उल्लेख करते थे और अपने पूर्ववर्ती संत-कवियों का उल्लेख करते थे। इससे उनके बीच सौहार्दपूर्ण संबंध का पता चलता है। कबीर ने रैदास को 'संतों का संत' कहकर संबोधित किया है। रैदास ने भी सम्मानपूर्वक कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, धन्ना, सेन और पीपा का उल्लेख किया है। धन्ना, नामदेव, कबीर, रैदास और सेन की ख्याति और लोकप्रियता का उल्लेख करते हुए गर्व महसूस करते हैं और वे यह स्वीकार करते हैं कि वे इन्हीं संतो से प्रभावित होकर भक्ति की ओर आकर्षित हुए हैं। इस बात पर भी कोई विवाद नहीं है कि नानक पर कबीर का स्पष्ट प्रभाव था। इसलिए अगर बाद के लोगों ने कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा आदि को रामानंद का शिष्य माना है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पांचवें सिख गुरु अर्जन देव ने *आदि ग्रंथ* में कबीर, रैदास आदि के पदों को संकलित किया। इससे एकेश्वरवादियों की वैचारिक एकता का पता चलता है।

ii) सभी एकेश्वरवादी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वैष्णव धारणा, भक्ति, नाथपंथी आंदोलन और सूफ़ी मत से प्रभावित थे। एकेश्वरवादी आंदोलन में इन तीनों धाराओं की त्रिवेणी मिलती है। पर उन्होंने अधिकतर इन विचारधाराओं को मुल रुप में स्वीकार नहीं किया, बल्कि पुरानी विचारधाराओं की नई व्याख्याएं कीं और उन्हें नया अर्थ दिया।

iii) एकेश्वरवादी यह मानते थे कि भगवान से साक्षात्कार का एक ही मार्ग है और वह है भक्ति द्वारा व्यक्तिगत अनुभव। वैष्णव भक्ति संत भी यही मानते थे, पर दोनों के दृष्टिकोण में मूलभूत अंतर है। एकेश्वरवादी मानते थे कि ईश्वर एक है। अतएव नानक के ईश्वर का अवतार नहीं हुआ था, वह आकारहीन, *निरंकार*, शाश्वत (*एकल*) और अवर्णनीय (*अलख*) था। अतएव एकेश्वरवादी भक्ति ***निर्गुण*** भक्ति थी न कि ***सगुण***। वैष्णव धर्मावलंबियों की भक्ति *सगुण*-भक्ति थी, जो ईश्वर के कई अवतारों में विश्वास करते थे। एकेश्वरवादियों ने भक्ति का तत्व वैष्णव भक्ति से ग्रहण किया, पर इसे *निर्गुण* रंग में रंग दिया। कई बार कबीर ईश्वर को उनके नाम राम से पुकारते हैं। इसी कारण उन्हें राम-भक्त भी कहा जाता है। पर कबीर ने बड़ी स्पष्टता से कह दिया था कि उनके राम अयोध्या के राजा दशरथ के महल में पैदा होने वाले दशरथ नंदन नहीं हैं, वे वह राम भी नहीं हैं, जिन्होंने रावण का वध किया था। बल्कि निराकार और *निर्गुण* ईश्वर हैं। एक ईश्वर और *निर्गुण* भक्ति में विश्वास करने के अलावा, एकेश्वरवादियों ने ईश्वर का नाम जपने, आध्यात्मिक *गुरु*, भक्ति गीतों के सामूहिक गायन (*कीर्तन*) और संतों के संग (*सत्संग*) के महत्व पर भी बल दिया है।

iv) एकेश्वरवादियों ने जो *पथ* अपनाया, हिंदू और इस्लाम दोनों धर्मों से परे था। उन्होंने अपने को इन दोनों प्रभावशाली धर्मों से न केवल अलग रखा बल्कि इनकी जमकर आलोचना की। इन्होंने जाति व्यवस्था और मूर्ति पूजा पर तीखा प्रहार किया। उन्होंने ब्राह्मणों और उनके धर्म-ग्रंथों की सत्ता को अस्वीकार किया। कबीर ने अपनी कटु और अक्खड़ शैली में कट्टर ब्राह्मणवाद पर आक्रमण किया और इसके लिए व्यंग्य का सहारा लिया।

v) एकेश्वरवादियों ने काव्य-रचना के लिए स्थानीय भाषाओं का उपयोग किया। इनमें से कुछ ने उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों के मिश्रण से अपने काव्य की रचना की। एकेश्वरवादियों ने निर्गुण भक्ति का प्रचार करने के लिए अपनी स्थानीय भाषा

का प्रयोग नहीं किया, बल्कि मिली-जुली सधुक्कड़ी भाषा का उपयोग किया जिसे सब लोग आसानी से समझ सकें। आम लोगों की भाषा का उपयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इस काल के संत-कवि विभिन्न प्रांतों का प्रतिनिधित्व करते थे और उनकी स्थानीय भाषाएं अलग-अलग थीं। यह इस आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता है। अपने मत के प्रचार के लिए एकेश्वरवादियों ने विभिन्न लोकप्रिय प्रतीकों और संकेतों का भी उपयोग किया। उन्होंने छोटे-छोटे पदों में अपनी उक्तियां व्यक्त की हैं, जिन्हें आराम से याद किया जा सकता है। अतएव, उदाहरण के लिए कबीर की कविता में अक्खड़पन, औघड़पन, और आम लोगों की भाषा का उपयोग हुआ है, लेकिन कबीर की कविता मूलतः जनता की कविता है।

vi) अधिकांश एकेश्वरवादी संत सन्यासी नहीं थे। वे सांसारिक और गृहस्थ जीवन बिताया करते थे। वे लोगों के बीच रहकर उपदेश दिया करते थे। उन्हें पेशेवर सन्यासियों से चिढ़ थी और वे कटु शब्दों में उनकी आलोचना भी करते थे। उन्होंने अपनी कविताओं में बार-बार पेशेवर जाति समुदायों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपना परंपरागत पेशा छोड़ा नहीं था। उनकी तुलना मध्यकालीन यूरोपीय ईसाई संतों से भी नहीं की जा सकती, जिन्हें चर्च ने 'पवित्र' घोषित कर दिया था। ये (कबीर, आदि संत) एक दूसरे को 'संत' या '**भगत**' कहकर संबोधित किया करते थे और जनता भी उनके लिए इन्हीं संबोधनों का प्रयोग करती थी। *आदि ग्रंथ* में कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा, नामदेव आदि का उल्लेख 'भगत' के रूप में किया गया है।

vii) अपने मत का प्रचार करने के लिए ये संत खूब घूमा करते थे। महाराष्ट्र के 14वीं शताब्दी के संत नामदेव, घूमते-घूमते पंजाब तक पहुंच गए। वहां उनके विचारों को इतनी लोकप्रियता मिली कि बाद में उसे *आदि ग्रंथ* में संकलित कर लिया गया। कबीर, रैदास और अन्य संतों के बारे में भी लोगों का मानना है कि उन्होंने खूब यात्राएं कीं।

viii) कबीर और अन्य एकेश्वरवादी संतों के मत देश के विभिन्न इलाकों में फैले और 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जातियों के बीच लोकप्रिय हुए। इनकी लोकप्रियता ने क्षेत्रीय सीमाओं का अतिक्रमण किया। कबीर को सिक्ख पंथ और राजस्थान की दादूपंथी परंपरा में इतना सम्मानजनक स्थान प्राप्त होना इस तथ्य को प्रमाणित करता है। दो सौ साल बाद और वह भी दूरस्थ प्रदेशों में इन संतों की लोकप्रियता बरकरार रहने का प्रमाण इससे मिलता है कि 17वीं शताब्दी के महाराष्ट्र के संत तुकाराम ने अपने को कबीर, रैदास, सेन, गोरा आदि का अनुयाई और शिष्य बताया। 17वीं शताब्दी में लिखी एक फारसी पुस्तक *दबिस्तान-ए मज़ाहिब,* जिसमें धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, में उत्तर भारत के लोगों के बीच कबीर की लोकप्रियता का जिक्र हुआ है।

ix) जनता के बीच इन एकेश्वरवादी संतों के मत काफी लोकप्रिय होने के बावजूद बाद में प्रमुख संत जैसे कबीर, रैदास और नानक के अनुयायियों ने अपने को एक संप्रदाय या *पंथ* के रूप में संगठित किया और फलस्वरूप कबीर *पंथ,* रैदासी *पंथ,* नानक *पंथ,* आदि अस्तित्व में आए। इन सभी *पंथों* में, केवल सिख *पंथ* जन-धर्म का स्वरूप प्राप्त कर सका। दूसरे *पंथ* भी आज किसी न किसी रूप में अस्तित्व में हैं। पर उनके अनुयायियों की संख्या काफी कम है और आधार भी संकीर्ण है।

बोध प्रश्न-1

1) भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

2) निम्नलिखित में से प्रत्येक पर दो पंक्तियाँ लिखिएः

क) रामानुज ....

....

ख) निम्बार्क ....

....

ग) वल्लभाचार्य ....

....

घ) चैतन्य ....

....

ङ.) माधवाचार्य ....

....

च) कबीर ....

....

छ) गुरु नानक ....

....

3) सिख धर्म के प्रमुख विचारों का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

4) भक्ति आंदोलन के उदय के कारणों का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

5) एकेश्वरवादी आंदोलन की प्रमुख विशेषताएँ बताइए। किन्हीं तीन प्रमुख एकेश्वरवादी संतों के नाम भी लिखिए।

....

....

....

....

16.5.3 उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति आंदोलन

विवेच्य काल के दौरान उत्तर भारत में रामानद वैष्णव भक्ति के सर्वप्रमुख विद्वान संत थे। उनके कुछ विचारों का उल्लेख हम **भाग 16.3** में पहले भी कर चुके हैं। उनका काल 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 15वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध के बीच का है। अपना आरंभिक जीवन उन्होंने दक्षिण में बिताया पर बाद में वे बनारस में बस गए। उन्हें दक्षिण भारतीय भक्ति परंपरा और उत्तर भारतीय वैष्णव भक्ति के बीच की कड़ी माना जाता है। पर उनकी विचारधारा आरंभिक दक्षिण भारतीय *आचार्यों* से तीन अर्थों से भिन्न थी:

i) वे विष्णु को नहीं राम को भक्ति का आराध्य मानते थे। उनके अनुसार राम सर्वोच्च ईश्वर थे, जिनकी अराधना सीता के साथ करनी चाहिए। इस दृष्टि से उत्तर भारत की वैष्णव भक्ति परंपरा में उन्हें राम संप्रदाय के संस्थापक के रूप में देखा जाता है।

ii) राम संप्रदाय के प्रचार के लिए उन्होंने संस्कृत का नहीं, बल्कि आम लोगों की भाषा का उपयोग किया।

iii) वैष्णव भक्ति परंपरा में रामानंद का सर्वप्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने सभी लोगों के लिए (जाति के बंधन को तोड़कर) भक्ति को सुलभ कराया। धार्मिक और सामाजिक मामलों

में उन्होंने जातिगत बंधनों को काफी उदार बना दिया। ब्राह्मण होने के बावजूद उन्होंने 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जातियों के वैष्णव अनुयायियों के साथ भोजन किया।

अंतिम मुद्दे के कारण ही बाद की वैष्णव परंपरा में कबीर और कुछ अन्य एकेश्वरवादियों को रामानंद का शिष्य बताया गया है। यह भी कहा जाता है कि इस्लाम धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण रामानंद ने यह परिवर्तन जरूरी समझा होगा। ऐसा भी माना जाता है कि 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जातियों के बीच नाथ पंथियों के बढ़ते प्रभाव को कम करने के लिए रामानंद के लिए ऐसा करना जरूरी हो गया होगा। उनके अनुयायियों को रामानंदी कहा जाता है। रामानंद द्वारा लिखित एक पद *आदि ग्रंथ* में भी संकलित है।

सल्तनत काल में वैष्णव भक्ति के एक प्रमुख उपदेशक वल्लभाचार्य भी थे। वे तेलुगू ब्राह्मण थे और उनका काल 15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 16वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पड़ता है। उनका जन्म भी बनारस में हुआ था। वे पुष्टिमार्ग के संस्थापक थे। इसे वल्लभ संप्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। उन्होंने कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। प्रमुख कृष्ण भक्त कवि सूरदास (1483-1563) और अन्य सात कवियों को *अष्टछाप* के नाम से जाना जाता है। इन्हें वल्लभ का शिष्य माना जाता है। बाद में यह संप्रदाय गुजरात में लोकप्रिय हुआ।

वस्तुतः उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति ने अपार लोकप्रियता पाई और उसका जनाधार विकसित हुआ। लेकिन मुगल काल के दौरान तुलसीदास (1532-1623) राम भक्ति में लीन हुए जबकि सूरदास (1483-1563), मीराबाई (1503-1573) और अन्य संतों ने कृष्ण भक्ति को लोकप्रिय बनाया।

16.5.4 बंगाल में वैष्णव भक्ति आंदोलन

बंगाल की वैष्णव भक्ति कई मामलों में उत्तर भारत और प्राचीन दक्षिण भारत की भक्ति से अलग थी। इसे दो विभिन्न परंपराओं ने प्रभावित किया। एक तरफ बंगाल की भक्ति *भागवत् पुराण* की वैष्णव भक्ति परंपरा और कृष्ण लीला के महिमा-बखान से प्रभावित थी और दूसरी तरफ सहजिया बौद्ध और नाथपंथियों की परंपरा से। जयदेव (12वीं शताब्दी) से लेकर बाद तक के अनेक भक्त कवियों में वैष्णव भक्ति का यह प्रभाव झलकता है। जयदेव ने *गीत गोविंद* की रचना संस्कृत में की थी। उन्होंने मैथिली भाषा में भी गीत रचे थे। इसे बाद में बंगाल वैष्णव भक्ति परंपरा में समेट लिया गया। उन्होंने कृष्ण और राधा के प्रेम को एक श्रृंगारिक अलौकिक स्वरुप प्रदान किया। इस समय बिहार और बंगाल में सहजिया बौद्ध और नाथपंथी जैसे गैर-वैष्णव संप्रदाय, जो अस्तित्व में थे, उन्होंने भी बंगाल में भक्ति आंदोलन को प्रभावित किया।

ये पंथ धर्म के गूढ़ और भावात्मक तत्वों को आसान और स्वाभाविक बनाकर पेश किया करते थे। चंडीदास (14वीं शताब्दी) और विद्यापति (14वीं-15वीं शताब्दी) जैसे वैष्णव भक्ति कवि इन गैर-वैष्णव पंथों से प्रभावित हुए। हालांकि *भागवत* परंपरा का भी उन पर गहरा असर था। प्रथम बंगला कवि चंडीदास और मैथिल कवि विद्यापति ने कृष्ण-राधा संबंध को महिमा-मंडित किया। इनके गीत बंगाल के वैष्णव भक्ति आंदोलन के अंग के रूप में विकसित हुए। चैतन्य खुद सहजिया सिद्धांत से प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं थे। यह संभव है कि चंडीदास और विद्यापति के माध्यम से बंगाल के भक्ति आंदोलन पर इन रहस्यवादी पंथो का प्रभाव पड़ा हो। पर निश्चित रूप से इस भक्ति आंदोलन का मूल प्रभाव *भागवत् पुराण* का ही था।

बंगाल के वैष्णव संतों में चैतन्य (1486-1533) सर्वप्रमुख हैं। उन्होंने पूर्वी भारत के अन्य हिस्सों में इसका प्रचार किया। एक धार्मिक पुरुष के रूप में उनकी प्रतिष्ठा इतनी ज्यादा थी कि लोग उनके जीवित रहते ही उन्हें कृष्ण का अवतार मानने लगे थे। चैतन्य के आगमन के बाद बंगाल के वैष्णव भक्ति आंदोलन का स्वरूप बदल गया। अब इसमें केवल भक्ति के गीत ही नहीं रचे जाते थे, बल्कि यह एक सुधार आंदोलन के रूप में विकसित हुआ, जिसका एक व्यापक सामाजिक आधार था।

चैतन्य ने कृष्ण भक्ति को लोकप्रिय बनाने के लिए जाति, धर्म और लिंग के बंधनों को तोड़ दिया। सभी जातियों और समुदायों के लोग उनके अनुयाई थे। हरिदास, जो कि एक मुसलमान थे, उनके प्रमुख शिष्य थे। उन्होंने *संकीर्तन* अर्थात् सामूहिक उन्मादपूर्ण नृत्य तथा सामूहिक भक्ति गान की प्रथा को लोकप्रिय बनाया।

लेकिन चैतन्य ने परंपरागत ब्राह्मणवादी मूल्यों का पूर्णतः त्याग नहीं किया। उन्होंने ब्राह्मणों और उनके ग्रंथों को चुनौती नहीं दी। उन्होंने 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न जाति' के शिष्यों के प्रति ब्राह्मण शिष्यों की जातिगत भावनाओं को अनुमोदित किया। उन्होंने संस्कृत के ज्ञाता छः ब्राह्मण गोस्वामियों को मथुरा के निकट वृंदावन भेजा। वहां उन्होंने एक ऐसे धर्म संस्थान की स्थापना की, जिसमें परंपरागत पूजा और अनुष्ठान का प्रावधान था और ईश्वर तक पहुंचने में जातिगत बाधाएं भी थी। इन गोस्वामियों ने धीरे-धीरे अपने को चैतन्य की मान्यता और बंगाल में पनप रहे लोकप्रिय आंदोलन से अलग कर लिया।

बंगाली समाज पर चैतन्य के आंदोलन का अच्छा-खासा प्रभाव पड़ा। उन्होंने *संकीर्तन* में जातिगत असमानता पर अंकुश लगाया और इस प्रकार बंगालियों के जीवन में एक प्रकार की समानता की भावना आई। बंगाल के साथ-साथ यह आंदोलन ओडिशा में पुरी में भी लोकप्रिय था। इन स्थानों पर उनके शिष्य केवल ब्राह्मण विद्वान ही नहीं थे, बल्कि उनके शिष्यों में आम आदमियों की संख्या भी थी। वे बंगला में लिखते थे, भक्ति का प्रचार करते थे और वे चैतन्य को जीवित कृष्ण या एक ही शरीर में राधा-कृष्ण के रूप में देखते थे।

गौड़िया वैष्णववाद

गौड़िया वैष्णववाद आंदोलन और चैतन्य आंदोलन (नव-वैष्णव आंदोलन) ने चैतन्य के जीवन और शिक्षा से प्रभाव ग्रहण किया और इसका प्रभाव असम, बंगाल और ओड़िशा के लोगों के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा। लोग केवल उनके उपदेशों से ही प्रभावित नहीं हुए बल्कि उन्हें ईश्वर के अवतार के रूप में पहचानने लगे। पहले चैतन्य के काल से पूर्व बंगाल और ओडिशा का सामाजिक ढांचा *वर्णाश्रम* पर आधारित था। शुद्रों और निम्न जातियों पर तरह-तरह के जुल्म ढाए जाते थे। शाक्त-तांत्रिक जैसे धार्मिक पंथों का वर्चस्व कायम हो रहा था। बंगाल की मध्यकालीन भक्ति वैष्णव और गैर-वैष्णव बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म से प्रभावित थी। जयदेव का *गीत गोविंद* पालवंश के शासनकाल में लिखा गया जिसमें राधा और कृष्ण के प्रेम को श्रृंगारिक-रहस्यवाद का आवरण प्रदान किया गया है। बौद्ध धर्म भी पतन की ओर उन्मुख था और इस पतनोन्मुख बौद्ध धर्म ने वैष्णववाद को प्रभावित किया जिसने बंगाली भक्ति आंदोलन को प्रभावित किया। इसमें मुख्य रूप से श्रृंगार, नारी वर्णन और भोगवाद पर बल दिया गया है। चैतन्य के पूर्व बंगाल और ओडिशा में ब्राह्मणों द्वारा निम्न वर्ग की जातियों पर जुल्म ढाए जाते थे। वहीं वस्तुतः समाज नैतिक पतन की ओर उन्मुख था।

16.5.5 महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन

अन्य वैष्णव भक्ति आंदोलनों के समान महाराष्ट्र के वैष्णव आंदोलन पर भी *भागवत् पुराण* का जबरदस्त असर था। इसके अतिरिक्त उन पर शैव नाथपंथियों का भी प्रभाव पड़ा जिनका 11वीं-12वीं शताब्दी के दौरान महाराष्ट्र समाज की 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जातियों पर गहरा प्रभाव था। ये नाथपंथी काव्य-रचना के लिए मराठी का उपयोग करते थे। ज्ञानेश्वर (1275-1296) महाराष्ट्र के भक्त-संतों में अग्रणी हैं। उन्होंने *भागवत् गीता* पर वृहत् भाष्य लिखा है। इसे *ज्ञानेश्वरी* के नाम से जाना जाता है। यह पुस्तक मराठी साहित्य की आरंभिक कृतियों में से एक है और महाराष्ट्र की भक्ति विचारधारा का आधार है। उन्होंने कई श्लोकों की भी रचना की जिन्हें *अभंग* के नाम से जाना जाता है। उन्होंने उपदेश दिया कि केवल भक्ति के मार्ग से ही भगवान के पास पहुंचा जा सकता है और इसमें जातिगत भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

नामदेव (1270-1350) पेशे से दर्जी थे। यह माना जाता है कि वे महाराष्ट्र भक्ति आंदोलन और उत्तर भारत के एकेश्वरवाद आंदोलन के बीच की कड़ी थे। वे पंढरपुर में रहते थे, पर उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण किया था और पंजाब भी गए थे। उनके भक्ति गीत भी *आदि ग्रंथ* में संकलित हैं। महाराष्ट्र में नामदेव को वारकरी परंपरा (वैष्णव भक्ति परंपरा) में स्थान दिया जाता है, पर उत्तर भारत की एकेश्वरवादी परंपरा में उन्हें *निर्गुण* संत के रूप में याद किया जाता है। महाराष्ट्र के अन्य प्रमुख संतों में एकनाथ (1533-1599) और तुकाराम (1598–1650) उल्लेखनीय हैं।

मराठा वैष्णव धर्म

वैष्णव धर्म के मराठा पंथ स्कूल या *भागवत् धर्म* का लंबा इतिहास है। 13वीं शताब्दी के अंत तक महाराष्ट्र के कवि संतों ने अपने ओज तथा संवर्धन से इस भक्ति आंदोलन को और तीव्रता दी।

इनमें सर्वप्रमुख ज्ञानेश्वर हैं, वे एक ब्राह्मण थे और उन्हें मराठा वैष्णव धर्म का महान् प्रतिपादक माना जाता है। इस वैष्णव धर्म की मुख्य विशेषता इसका अनुष्ठान विरोधी और जाति विरोधी होना था। महाराष्ट्र के इस वैष्णववाद, अनुष्ठान विरोधी और जाति विरोधी आंदोलन, की तुलना उत्तर भारत के आंदोलन के अन्य गैर-रुढ़िवादी आंदोलन से की जा सकती है। कवि संतों ने समाज के निचले हिस्से तक धर्म को पहुंचाने की कोशिश की। इन्होंने *भागवत् गीता* को मराठी धुनों में संगीतबद्ध किया। ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र में *भागवत् धर्म* की आधारशिला रखी और विठोबा (विष्णु का एक रूप) की मूर्ति की स्थापना करने वाले और उनके पुण्य स्थल पर नियत तीर्थयात्रा के प्रावधान वाले लोकप्रिय वारकरी पंथ को बढ़ावा दिया।

विठोबा वारकरी पंथ के इष्टदेव थे। इनके अनुयाई गृहस्थ होते थे, जो साल में दो बार विठोबा के दर्शन हेतु जाया करते थे। इनकी सदस्यता में जाति के आधार पर कोई बंधन नहीं था। शूद्र, अतिशूद्र, कुम्हार, माली, महार और *अलुते-बलुतेदारों* को भी शामिल किया गया। हरिजन संत चोका, गोरा कुम्हार, नरहरि सुनार, बंका महार, आदि समाज के 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' वर्ग से संबंधित संत थे। उत्तर-ज्ञानेश्वर काल में नामदेव (दर्जी), तुकाराम और रामदास प्रमुख मराठी संत थे। एकनाथ (ब्राह्मण) ने ज्ञानेश्वर की परंपरा को आगे बढ़ाया। तुकाराम और रामदास (शिवाजी के गुरु) ने भी जाति विरोधी और अनुष्ठान विरोधी मान्यताओं का प्रचार किया। एकनाथ ने लोक भाषा मराठी में अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं। उन्होंने मराठी साहित्य में अध्यात्मवाद की जगह कथात्मक रचनाओं पर विशेष बल दिया।

तुकाराम ने *अभंग* और छंद (*दोहा*) के रूप में अपने उपदेश प्रस्तुत किए जिसे *गाथा* के नाम से जाना जाता है। यह मराठा वैष्णववाद के अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है। धार्मिक निर्देश के लिए वारकरी मराठा संतों ने *कीर्तन* और *निरूपण* जैसी नई विधाओं का विकास किया। इस मराठा आंदोलन ने मराठी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन संतों ने लोक भाषा का उपयोग किया, जिसके कारण मराठी को साहित्यक भाषा की गरिमा प्राप्त हुई। वारकारी संप्रदाय के साहित्य से हमें इस आंदोलन की जन-प्रवृत्ति का पता चलता है। इस आंदोलन ने कुनबियों (किसानों), बनियों (व्यापारियों), शिल्पियों आदि को संबोधित किया। एम. जी. रानाडे बताते हैं इस आंदोलन के दौरान लोक साहित्य का तेजी से विकास हुआ और इसने 'वर्णाश्रम के अनुसार निम्न' जाति के उत्थान में सहायता की।

16.5.6 अन्य प्रदेशों में भक्ति आंदोलन

14वीं शताब्दी के दौरान कश्मीर में शैव भक्ति फली-फूली। यहां के शैव भक्ति संतों में लाल डेड नामक एक महिला का नाम सबसे ऊपर आता है। गुजरात में भक्ति का प्रचार वल्लभाचार्य और उनके वल्लभ संप्रदाय द्वारा हुआ। इसके अतिरिक्त नरसिंह मेहता (1414-1481 या 1500-1580) भी अन्य प्रमुख संत थे। वे जयदेव और कबीर से परिचित थे और कई संत कवि उनके शिष्य थे। गुजरात के व्यापारियों और ज़मींदारों के बीच वल्लभ संप्रदाय काफी लोकप्रिय हुआ। 12वीं-13वीं शताब्दी के दौरान कर्नाटक में कन्नड़ भाषी वीर शैवों के बीच शैव भक्ति संप्रदाय विकसित हुआ। उन्होंने भक्ति की परंपरागत अवधारणा को बदल दिया। उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील था। उन्होंने इसके माध्यम से समाज की आलोचना करने का बीड़ा भी उठाया।

असम की ब्रह्मपुत्र घाटी और कूच-बिहार में शंकरदेव (1449-1568) ने भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। उनका जन्म एक गैर-ब्राह्मण भूयान सरदार के परिवार में हुआ था। प्रौढ़ावस्था में वे सन्यासी बन गए और माना जाता है कि उन्होंने उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के तीर्थस्थलों का दौरा किया। उन्होंने विष्णु या उनके अवतार कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण का उपदेश दिया। उन्हें अहोम राज्य के ब्राह्मण पुजारियों के कोप का शिकार बनना पड़ा और उन्होंने पड़ोसी राज्य कूच-बिहार में शरण ली। यहां के राजा ने उन्हें भक्ति के प्रचार-प्रसार की पूरी आजादी दी। इनकी भक्ति एकेश्वरवादी विचारों से प्रभावित थी। इसे *एक-शरण-धर्म* के नाम से जाना जाता था, यानी ऐसा धर्म जिसमें एक आराध्य में श्रद्धा या निष्ठा रखी जाती हो। उन्होंने जाति व्यवस्था की आलोचना की और जनता को उनकी भाषा (ब्रज बोली का असमी रूप) में उपदेश दिया। उन्होंने भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए नृत्य-नाटक-संगीत का समावेश किया। उन्होंने *सात्रा* नाम से एक संस्था की भी स्थापना की। *सात्रा* का मतलब है वह मीटिंग जिसमें सभी वर्गों के लोग धार्मिक और

सामाजिक मुद्दों पर बातचीत करने के लिए इकट्ठे होते थे। बाद में ये *सात्रा* मठ में रूपांतरित हो गए। उनके संप्रदाय को *महापुरुषीय धर्म* के नाम से जाना जाता था।

बोध प्रश्न-2

1) मराठा वैष्णववाद की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?

....

....

....

....

2) गौडिया वैष्णव आंदोलन की पृष्ठभूमि पर विचार कीजिए। इसकी मुख्य विशेषताएँ क्या थीं?

....

....

....

....

3) निम्नलिखित में प्रत्येक पर संक्षिप्त में लिखिएः

क) बंगाल का भक्ति आंदोलन

....

....

....

ख) महाराष्ट्र का भक्ति आंदोलन

....

....

....

16.6 सूफ़ी मत की विशेषताएँ

रहस्यवाद, धर्म का ही एक प्रतिफलन है। ईश्वरीय गुणों एवं आज्ञा और जगत पर उसके प्रभाव के संदर्भ में समय-समय पर कई विचार उत्पन्न हुए और इन्हीं विवादों के बीच में सभी इस्लामी आंदोलनों का जन्म हुआ। इस्लाम के धार्मिक और आध्यात्मिक आंदोलन से राजनैतिक आयाम भी जुड़ा हुआ है। अतः धार्मिक आंदोलन के कई प्रतिपादकों ने अपनी विचारधारा को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से राज्य का समर्थन प्राप्त करना चाहा। काफी समय से *इल्लम-उल कलम* (कट्टरपंथ को तर्कसंगत ढंग से समर्थन देने की विचारधारा) और यूनानी दर्शन से प्रभावित और ईश्वर के साक्षातीकरण पर बल देने वाले विचारकों के बीच द्वंद्व चल रहा था। सब प्रकार के प्रयासों के बावजूद कट्टर धर्मशास्त्री न तो दर्शन के अध्ययन को रोक सके और न ही शासकों को दार्शनिकों को संरक्षण देने से रोक सके। सूफ़ी सिद्धांत ने इस्लामी दर्शन का तीसरा दृष्टिकोण सामने रखा।

दार्शनिक उस मूल तत्व के स्वरूप को तर्क का आधार देने का प्रयत्न कर रहे थे और *कलम* के विद्वान ईश्वर को अनुभव से परे मान रहे थे अर्थात् ईश्वर का न तो साक्षात्कार किया जा सकता है और न ही उसे आत्मसात किया जा सकता है। इन सबसे अलग सूफ़ीवाद अंतर्ज्ञानी और आध्यात्मिक प्रयासों के द्वारा उस ईश्वर के साथ आत्मसात होने की आंतरिक अनुभूति की बात करता है। तर्क को नकारते हुए सूफियों ने मनन और ध्यान करने पर बल दिया।

भारत के 18वीं शताब्दी के एक प्रमुख विद्वान शाह वलिउल्लाह के विश्लेषण के अनुसार सूफ़ी धर्म इस्लाम के गोपनीय पक्ष को न्यायोचित ठहराते हैं जिसमें नैतिक आचरण के द्वारा हृदय को पवित्र करने की बात कही गई है। इस्लामी सिद्धांत में इस आयाम को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अल्लाह की इबादत करते हुए ध्यान रखना चाहिए कि भक्त अल्लाह को देख रहा है और वह भक्तों को देख रहा है।

इस्लाम में विभिन्न रहस्यात्मक प्रवृत्तियों और आन्दोलनों को सूफीमत या *तसव्वुफ़* के नाम से जाना जाता है। सूफ़ी पंथ चार चरणों में विभक्त है। प्रथम चरण की शुरुआत पैगंबर मुहम्मद और उनके सहयोगियों द्वारा होती है और यह बगदाद के सूफ़ी शेख जुनैद के समय (मृत्यु 910) तक जारी रहता है। इस काल में सूफियों ने अपने को प्रार्थना (*नमाज़*), उपवास (*रोज़ा*) और ईश्वर का नाम लेने (*ज़िक्र*) तक सीमित रखा। जुनैद के काल में सूफ़ी अपने को ध्यान और मनन में लीन रखते थे। इस दौरान आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होता था जिसे प्रतीकात्मक रूप में या शब्दावली द्वारा व्यक्त किया जाता था। इस चरण में सूफियों ने ***समा*** (धार्मिक संगीत) के भावनात्मक प्रभाव पर विशेष बल दिया। भौतिक इच्छाओं से अपने को बचाने के लिए सूफियों ने आत्मग्लानि की प्रथा की शुरुआत की। संसार की माया और भौतिक सुख-सुविधाओं से अपने को दूर रखकर कई सूफ़ी दूरदराज के जंगलों और पहाड़ों पर जीवन व्यतीत करने लगे।

शेख अबु सैयद बिन अब्दुल खैर (मृत्यु 1049) के साथ तीसरे चरण की शुरुआत हुई। अब हर्षातिरेक दूरसंवेदन (ecstacy) पर जोर दिया जाने लगा और इसके माध्यम से आध्यात्मिक संवाद कायम किया गया। भौतिक और शाश्वत को एकाकार किया गया और इसमें उनका व्यक्तित्व समाहित हो गया तथा सूफियों ने नियमित प्रार्थना, उपवास (*रोज़ा*) आदि भी छोड़ दिया।

चौथे चरण में सूफियों ने 'मूल तत्व' (*वाजिब-उल वुजूद*; 'Necessary Being') से पांच अवस्थाओं में अवरोहण सिद्धांत ग्रहण किया। यहीं से *वहदत-उल वुजूद* ('Unity of Being') की समस्या शुरू हुई।

बायज़िद बस्तमी (मृत्यु 874 या 877-78) ने सूफ़ी धर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका अदा की। वह ईरानी था। उसने *फना* (अस्तित्व मिटाना) की अवधारणा से परिचित कराया। इसके अनुसार मनुष्य अपने अस्तित्व को ईश्वर में डुबो देता है, यह एक ऐसी स्थिति है जहां रहस्यवादी को शाश्वत जीवन (*बका*) की अनुभूति होती है। बायज़िद के चिंतन को जुनैद के एक शिष्य हुसैन इब्न मंसूर अल-हल्लाज ने आगे बढ़ाया। उसके रहस्यवादी सिद्धांत *अन अल-हक* ('मैं सत्य या ईश्वर हूं') ने ईरान और भारत में रहस्यवादी विचारों के अभ्युदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कई *सिलसलों* की स्थापना हुई और दूरदराज इलाकों में शिष्यों को नियुक्त करने की प्रथा चली। तीसरे चरण में इस प्रवृत्ति में तेजी आई और कई प्रमुख सूफ़ी संत भारत आए। भारत आने वाले सूफ़ी संतों में शेख सफीउद्दीन गज़िरुनी और अबुल हसन अली बिन उस्मानी अल-हुजविरि उल्लेखनीय हैं।

भारत और उसके बाहर कई सूफ़ीमत या *सिलसिले* विकसित हुए। प्रत्येक मत की अपनी-अपनी खास विशेषताएँ थीं, पर सभी सूफ़ी मतों में कुछ समान विशेषताएं भी थीं। हम यहां इसी प्रकार की विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

i) सूफ़ी मत का उदय इस्लामी देशों में हुआ। इसमें अलौकिक यथार्थ (*हक़ीक़त*) से सीधा संपर्क स्थापित करने के लिए सूफ़ी मार्ग (*तरीका*) पर चलने का महत्व बताया गया।

ii) सूफ़ी मत के अनुसार व्यक्ति को ईश्वर का अनुभव करने के लिए कई 'पड़ावों' या 'चरणों' (*मक़ामात*) और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों (*हाल*) का सामना करके गुजरना पड़ता है।

iii) सूफ़ी मार्गों को कोई भी व्यक्ति केवल आध्यात्मिक गुरु (*शेख, पीर* या *मुर्शिद*) के कड़े निरीक्षण से ही पार कर सकता है। *शेख, पीर* या *मुर्शिद* का दर्जा वही पा सकते हैं, जिन्होंने सफलतापूर्वक इस मार्ग को तय कर लिया हो और ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित कर लिया हो।

iv) शिष्य (*मुरीद*) कई 'पड़ावों' और 'चरणों' से गुजरता है। वह ईश्वर में ध्यान लगाने और ध्यान केंद्रित करने (*ज़िक्र*) और आत्म-संताप, ईश्वर का नाम बार-बार जपना जैसे आध्यात्मिक अभ्यासों से गुजरता है।

v) सूफ़ी आवेग उत्पन्न करने वाले संगीत आयोजनों (*समा*) का सहारा लेते थे। इस '*समा*' का उपयोग परमानंद की अनुभूति प्राप्त करने के लिए किया जाता था। कुछ सूफ़ी मत कुछ खास किस्म के संगीत आयोजनों या '*समा*' को मंजूरी नहीं देते थे। *उलमा* इस प्रथा के बिलकुल खिलाफ थे।

vi) सूफ़ी मत अनेक सिलसिलों में विभक्त था। सभी सिलसिले अपने संस्थापक के नामों पर आधारित थे, जैसे सुहरावर्दी, कादिरी, चिश्ती आदि। एक सूफ़ी गुरु और उसके शिष्यों को मिलाकर एक *सिलसिले* का निर्माण होता था।

vii) सूफ़ी मत की गतिविधियों का केंद्र एक आश्रम (***खानकाह***) होता था। यहां *पीर* अपने शिष्यों को आध्यात्मिक शिक्षा दिया करता था। *पीर* की ख्याति और प्रतिष्ठा पर *खाऩकाह* की लोकप्रियता आधारित होती थी। जो *पीर* जितना ज्यादा प्रतिष्ठित होता था, उसके *खाऩकाह* में शिष्यों की संख्या भी उतनी ही अधिक होती थी। इन *खाऩकाहों* को दान और वृत्ति मिला करता थी।

16.7 भारत में सूफ़ी मत का विकास

भारत आकर बसने वाले आरंभिक सूफ़ियों में अल-हुजविरि (लगभग 1088) सर्वप्रमुख थे। उनकी दरगाह मज़ार लाहौर में है उन्होंने *कश्फ-उल महजूब* नामक ग्रंथ की रचना की थी। फ़ारसी में रचित यह ग्रंथ सूफ़ी मत पर लिखा एक मानक दस्तावेज है। लेकिन भारत में सूफ़ी संप्रदायों की स्थापना 13वीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद हुई। सूफ़ी मत के प्रचार-प्रसार के लिए भारत एक अनुकूल जगह सिद्ध हुई। यह सूफियों के लिए शरण स्थल भी बना। 13वीं शताब्दी में इस्लामी दुनिया पर मंगोलों के आधिपत्य के बाद सूफियों को वहां से भागना पड़ा। भागकर वे सीधे भारत आए। 13वीं.14वीं शताब्दी के दौरान भारत में जगह-जगह *खानक़ाह* स्थापित हो गए। इन सूफ़ियों ने भारत में इस्लामी दुनिया के कई संप्रदाय स्थापित किए, अपनी संस्थाएं विकसित की और जहां इनका प्रभाव जमा वहां ये स्थापित हो गए। 14वीं शताब्दी के मध्य तक मुल्तान से लेकर बंगाल तक और पंजाब से लेकर देवगिरि तक समूचे देश में वे सक्रिय हो गए। आरंभिक 13वीं शताब्दी के एक यात्री के अनुसार दिल्ली और इसके आसपास दो हज़ार आश्रय स्थल और *खानक़ाह* स्थापित थे।

मूल रूप से भारत में स्थापित सूफ़ी मत का आधार इस्लामी दुनिया, खासकर ईरान और मध्य एशिया, में स्थापित सूफ़ी सिद्धांत और मान्यताएं थीं। पर भारत में स्थापित होने के बाद इसके विकास में सूफ़ी मत के अभारतीय तत्वों की अपेक्षा भारतीय परिवेश की ज्यादा भूमिका थी। एक बार भारत में जड़ जमा लेने के बाद उनका अलग ढंग से विकास, अवनति और उत्थान हुआ। हालांकि भारतीय सूफ़ी मत पर बाहरी सूफ़ीमत के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है, पर यह भारतीय परिवेश में बढ़ा और फला-फूला।

16.8 भारत में सल्तनत काल के दौरान सूफ़ी *सिलसिले*

भारत में सल्तनत काल के दौरान कई *सिलसिले* लोकप्रिय हुए। यहां हम उनमें से कुछ प्रमुख *सिलसिलों* की चर्चा करेंगे।

16.8.1 सुहरावर्दी *सिलसिला*

सुहरावर्दी *सिलसिला* सल्तनत काल का प्रधान सूफी *सिलसिला* था। भारत में इसके संस्थापक शेख बहाउद्दीन ज़क़रिया (1182-1262) थे। वह एक खुरासानी थे और शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य थे, जिन्होंने बगदाद में इस *सिलसिले* की शुरुआत की थी। शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के आदेश से शेख बहाउद्दीन ज़क़रिया भारत आए। मुल्तान और सिंध को उन्होंने अपनी गतिविधि का केंद्र बनाया। अतः उन्होंने मुल्तान में जिस *खानक़ाह* की स्थापना की, उसकी गिनती भारत में स्थापित आरंभिक *खानक़ाहों* में होती है। उस समय दिल्ली का सुल्तान इल्तुतमिश था, पर मुल्तान पर उसके प्रतिद्वंदी कुबाचा का आधिपत्य था। शेख बहाउद्दीन ज़क़रिया कुबाचा के प्रशासन की आलोचना किया करते थे। इल्तुतमिश तथा मुल्तान के शासक कुबाचा के बीच हुए संघर्ष में शेख ने खुलेआम इल्तुतमिश का पक्ष लिया। कुबाचा के पतन के बाद इल्तुतमिश ने बहाउद्दीन ज़क़रिया को *शेख-उल इस्लाम* (इस्लाम का प्रमुख) का खिताब दिया और अनुदान प्रदान किया। समकालीन चिश्ती संतों के विपरीत उन्होंने व्यावहारिक नीति अपनाई और काफी संपत्ति इकट्ठी की। उन्होंने राज्य का संरक्षण स्वीकार किया और शासक वर्ग से अपना संबंध बनाए रखा।

लेकिन बाद में इस संप्रदाय से कई स्वतंत्र शाखाओं का जन्म हुआ। इनमें से कुछ को 'बेशरा' (अवैद्य संप्रदाय; जिन्होंने *शरीयत* की अवहेलना की) भी कहा जाता था।

शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी ने शेख बहाउद्दीन ज़क़रिया के अलावा कई अन्य खलीफाओं (प्रमुख शिष्य) को सुहरावर्दी सिलसिला के प्रचार-प्रसार के लिए भारत भेजा। शेख जलालुद्दीन तबरीज़ी उन्हीं में से एक थे। दिल्ली में अपना प्रभुत्व जमाने में वह असफल रहे और बंगाल चले गए। वहां उन्होंने अपनी *खानक़ाह* स्थापित की और कई शिष्य बनाए। उन्होंने अपने *खानक़ाह* में लंगर (मुफ्त भोजन) की भी व्यवस्था की। यह कहा जाता है कि बंगाल में इस्लामीकरण की प्रक्रिया में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सल्तनत काल में पंजाब, सिंध और बंगाल सुहरावर्दी गतिविधि के तीन प्रमुख केंद्र थे। विद्वानों की आम राय है कि सुहरावर्दी सूफ़ियों ने हिंदुओं को इस्लाम धर्म अपनाने को प्रेरित किया और इसमें उन्हें शासक वर्ग की सहायता मिली। इस दृष्टि में सुहरावर्दी और चिश्ती सूफ़ियों में जमीन-आसमान का फर्क था, चिश्ती सूफ़ियों ने धर्म परिवर्तन करना अपनी शिक्षाओं का लक्ष्य नहीं बनाया।

16.8.2 चिश्ती सिलसिला

सल्तनत काल में चिश्ती संप्रदाय का विकास दो चरणों में संपन्न हुआ। 1356 में शेख नसीरुद्दीन (चिराग-ए दिल्ली) की मृत्यु के बाद प्रथम चरण समाप्त हुआ। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसकी अवनति हुई। दूसरे चरण की शुरुआत 15वीं-16वीं शताब्दी में पूरे देश में इसके पुनरुत्थान और प्रसार से हुई।

प्रथम चरण

भारत में स्थित सूफ़ी संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय सबसे लोकप्रिय था। इसका प्रारंभ हेरात में हुआ था। सिजिस्तान में जन्मे (लगभग 1141) ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने भारत में इस संप्रदाय की स्थापना की (मृत्यु 1236)। वे गौरी के आक्रमण के समय भारत आये। 1206 में अंतिम रूप से वे अजमेर में बस गए और उन्हें मुसलमानों और गैर-मुसलमानों सभी का आदर प्राप्त हुआ। उनके कार्यकलापों का कोई प्रमाणिक दस्तावेज उपलब्ध नहीं है। बाद में, कई दंतकथाओं में उन्हें इस्लाम धर्म के उत्साही प्रचारक के रूप में दर्शाया गया। पर असलियत यह है कि उन्होंने धर्म परिवर्तन में कभी सक्रिय हिस्सा नहीं लिया और गैर-मुस्लिमों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारवादी था। आने वाली शताब्दियों में अजमेर स्थित उनकी मज़ार प्रमुख तीर्थस्थल बन गई।

दिल्ली में ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी (मृत्यु 1235) ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के उत्तराधिकारी थे। शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के एक दूसरे खलीफा शेख हमीदुद्दीन नागौरी (मृत्यु 1274) ने राजस्थान में नागौर को अपनी गतिविधि का केंद्र बनाया। शेख हमीदुद्दीन नागौरी ने नागौर में एक *सिलसिला* स्थापित किया और वे वहां एक साधारण राजस्थानी किसान की तरह रहने लगे। उन्होंने शासन से जुड़े लोगों के साथ संबंध भी नहीं रखा। वह शुद्ध रूप से शाकाहारी थे। उन्होंने और उनके उत्तराधिकारियों ने फ़ारसी में लिखे पदों को स्थानीय भाषा हिंदवीं में अनूदित किया। इस प्रकार के अनुवाद का हिंदुस्तान में यह प्रथम उदाहरण है।

दिल्ली में ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी का *खलीफा* ख्वाजा फरीदुद्दीन मसूद (1175-1265) उनका उत्तराधिकारी बना। वह गंजशकर या बाबा फरीद के नाम से ज्यादा जाने जाते थे। बाबा फरीद दिल्ली छोड़कर पंजाब में अजोधन चले गए और वहां खानक़ाह में रहने लगे। उन्होंने शासक और अमीर वर्ग से कोई संबंध नहीं रखा। नाथपंथी योगी उनकी *खानक़ाह* में आकर रहस्यवाद के स्वरूप पर बहस किया करते थे। पंजाब में उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा परिणाम यह है कि उनकी मृत्यु के 300 वर्ष बाद भी उनके पदों को 1604 में सिखों के पांचवें गुरु, अर्जन द्वारा *आदि ग्रंथ* में संकलित किया। पाकपटन स्थित उनका मज़ार शीघ्र ही एक तीर्थस्थल बन गया।

बाबा फरीद के ख्यातिलब्ध और 14वीं शताब्दी के प्रमुख सूफ़ी संत शेख निज़ामुद्दीन औलिया (1236-1325) को कौन नहीं जानता है। उन्होंने दिल्ली को चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बनाया। उनके समकालीन दो इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी और अमीर खुसरो ने 13वीं शताब्दी के उत्तरार्ध

और 14वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उत्तर भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में उनके महत्व को रेखांकित किया है। बाद में, उनके उत्तराधिकारियों ने देश के विभिन्न भागों में चिश्ती संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। अमीर हसन सिज्ज़ी लिखित *फवायद-उल फुवाद* में उनकी शिक्षा और वार्तालाप (***मलफूज़ात***) संकलित हैं। इसमें दार्शनिक और रहस्यात्मक बातों का समावेश नहीं है, बल्कि इसमें सूफ़ी मत के व्यवहारिक पक्ष का उल्लेख किया गया है।

शेख निज़ामुद्दीन औलिया के जीवन-काल में एक के बाद एक सात शासक दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर बैठे। पर उन्होंने हमेशा शासकों और अमीरों से दूर रहने की कोशिश की और कभी किसी शासक के दरबार में पैर नहीं रखा। उनकी *खानक़ाह* के *लंगर* (मुफ्त भोजन व्यवस्था) का द्वार हिंदू और मुसलमानों के लिए समान रूप से खुला रहता था। अपनी *खानक़ाह* में वे अनेक नाथपंथी योगियों से शास्त्रार्थ और वार्तालाप करते थे। योग के कई अभ्यासों पर उनकी पकड़ थी और योगी उन्हें *सिद्ध* (संपूर्ण) कहा करते थे। अमीर खुसरो (1253-1325) शेख निज़ामुद्दीन औलिया के परम निष्ठावान शिष्य थे।

शेख निज़ामुद्दीन औलिया के कई आध्यात्मिक शिष्य या *खलीफा* हुए। शेख बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृत्यु 1340) उनमें से एक थे। मुहम्मद तुगलक ने उन्हें दक्खन जाने को मजबूर किया। उन्होंने दौलताबाद को अपना केंद्र बनाया और वहां चिश्ती संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया।

दिल्ली में शेख नसीरुद्दीन महमूद (मृत्यु 1356) शेख निज़ामुद्दीन औलिया के प्रमुख *खलीफा* और उत्तराधिकारी थे। उन्हें चिराग-ए दिल्ली (दिल्ली का दीप) के नाम से भी जाना जाता था। उन्होंने और उनके कुछ शिष्यों ने चिश्ती संप्रदाय की उन प्रथाओं को छोड़ दिया, जो कट्टरपंथी इस्लाम के साथ टकराती थीं। दूसरी तरफ उन्होंने *उलमा* से अनुरोध किया कि चिश्ती संप्रदाय की प्रमुख प्रथा *समा* के प्रति अपना कड़ा रुख नरम कर लें।

बाद के तुगलक और सैयद शासकों के काल में दिल्ली में चिश्ती संप्रदाय का पतन

कुछ विद्वानों का मानना है कि दिल्ली में चिश्ती संप्रदाय के पतन का कारण सुल्तान मुहम्मद तुगलक का रवैया और नीतियां थीं। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिगत रूप से सुल्तान सूफ़ियों का विरोधी नहीं था। सुल्तान ने सूफियों को राज्य की सेवा स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इसके बावजूद कुछ सूफ़ी, यहां तक कि शेख नसीरुद्दीन चिराग-ए दिल्ली भी पूरे समय दिल्ली में ही रहे। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी फिरोज़ शाह तुगलक ने सूफ़ियों को धार्मिक दान दिया और *खानक़ाह* फिर सक्रिय हो उठे। 1356 में शेख नसीरुद्दीन की मृत्यु के बाद दिल्ली में कोई ख्याति प्राप्त चिश्ती हस्ती नहीं रह गई। अपने किसी धार्मिक उत्तराधिकारी की नियुक्ति किए बगैर उनकी मृत्यु हो गई। तैमूर के आक्रमण (1398) के समय उनका एक शिष्य गेसूदराज़ दिल्ली छोड़कर दक्खन जैसी सुरक्षित जगह चला गया। दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद सूफ़ी अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व प्राप्त राज्यों में फैलने लगे और वहीं अपने *खानक़ाह* स्थापित किए। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 15वीं शताब्दी के चिश्ती संप्रदाय देश के विभिन्न भागों में फैल गया। इससे चिश्ती सूफ़ियों के दृष्टिकोण और प्रथाओं में मूलभूत बदलाव आया।

द्वितीय चरण

सल्तनत काल में शेख नसीरुद्दीन की मृत्यु के बाद चिश्ती सिलसिले का पतन आरंभ हुआ और दिल्ली से बिखरकर यह विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों में फैल गया। यहीं से चिश्ती सिलसिलों के इतिहास का दूसरा दौर शुरू होता है। 13वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही सूफ़ी दक्खन की ओर जाने लगे थे, पर दक्खन में चिश्ती संप्रदाय की नींव मुहम्मद तुगलक के शासन काल में शेख बुरहानुद्दीन ग़रीब ने डाली। बाद में, कई सूफ़ी चिश्ती बहमनी राज्य (1347-1538) की राजधानी गुलबर्गा जाकर बस गए। गुलबर्गा में इन सूफ़ियों ने दरबार से अपना रिश्ता कायम किया और राज्य संरक्षण स्वीकार किया। इस प्रकार शासक वर्ग के प्रति चिश्ती संप्रदाय के रवैये में परिवर्तन आ गया। दूसरी तरफ बहमनी शासकों ने उन्हें अपने पक्ष में करने के लिए भूमि अनुदान प्रदान किए।

मुहम्मद बंदा नवाज़ (लगभग 1321-1422) इन चिश्तियों में प्रमुख थे। वह दक्खन चले गए और बहमनी सुल्तान फ़िरोज शाह बहमनी (1397-1422) से बतौर भू-अनुदान चार गांव प्राप्त किए। वह

कट्टरपंथी सूफ़ी थे और उन्होंने सूफ़ी मत की मान्यताओं की अपेक्षा इस्लामी कानून (*शरीयत*) को प्रमुखता दी। गेसूदराज़ ने चिश्तियों की उन सभी प्रथाओं को छोड़ दिया जो कट्टरपंथी *उलमा* को नहीं भाती थीं। अपने पूर्ववर्ती चिश्ती गुरुओं के विपरीत उन्होंने *तसव्वुफ* पर या सूफ़ी चिंतन पर खूब लिखा। उनकी मृत्यु के बाद भी बहमनी सुल्तान उनके परिवार को भू-अनुदान देते रहे। गुलबर्गा स्थित उनकी ***दरगाह*** बाद में दक्खन का एक प्रमुख तीर्थ स्थल बन गई। पर उनके बाद किसी ने चिश्ती संप्रदाय में रुचि नहीं दिखाई और उनके परिवारजन भूमिधर कुलीन वर्ग का जीवन व्यतीत करने लगे। इससे उस क्षेत्र में चिश्ती संप्रदाय का अंत हो गया। 1422 सी ई में बहमनी राज्य की राजधानी गुलबर्गा से बदलकर बीदर हो गई। इस कारण भी गुलबर्गा में चिश्ती संप्रदाय का पतन हो गया।

पर 15वीं शताब्दी के अंत में एक बार फिर चिश्ती संप्रदाय शक्ति अर्जित करने लगा और 16वीं-17वीं शताब्दी तक इसका विकास हुआ। आदिल शाही सुल्तानों की राजधानी बीजापुर शहर के ठीक बाहर शाहपुर की पहाड़ी पर इनका नया केंद्र स्थापित हुआ। शाहपुर पहाड़ी पर स्थापित चिश्ती संप्रदाय गुलबर्गा में स्थापित चिश्ती संप्रदाय से भिन्न था। इन्होंने दरबार और *उलमा* से दूरी बनाए रखी और स्थानीय तत्वों को अपना आधार बनाया। इस प्रकार शाहपुर के सूफ़ी अपने दृष्टिकोण में दिल्ली स्थित आरंभिक चिश्तियों से काफी मिलते-जुलते थे। पर यह याद रखना चाहिए कि शाहपुर स्थित चिश्ती संप्रदाय दिल्ली और गुलबर्गा स्थित चिश्ती संप्रदाय से बिल्कुल अलग रहकर विकसित हुआ।

उत्तर भारत में 15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 16वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चिश्ती संप्रदाय का पुनरुत्थान हुआ। चिश्ती संप्रदाय की तीन शाखाएं उभर कर सामने आईं, नागौरी (शेख हमीदुद्दीन नागौरी के नाम पर), साबिरी (शेख अलाउद्दीन कालियारी के नाम पर), और निज़ामी (शेख निजामुद्दीन औलिया के नाम पर)। 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 16वीं शताब्दी के आरंभ में शर्की सुल्तानों की राजधानी जौनपुर भी इस समय उत्तर भारत में चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बना। 15वीं शताब्दी के आरंभ में लखनऊ के निकट रुदौली में भी चिश्ती केंद्र स्थापित हुआ। लोदी काल में बहराइच (आधुनिक उत्तर प्रदेश में) भी चिश्ती संप्रदाय का केंद्र बना। शेख अब्दुल कुद्दूस गंगोही (1456-1537) ने उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के गंगोह में एक प्रमुख केंद्र स्थापित किया।

दूसरे दौर में बंगाल और मालवा में चिश्ती केंद्र स्थापित हुए। दूसरे दौर के कई सूफ़ी संतों ने अरबी और फ़ारसी के मानक ग्रंथों पर भाष्य लिखें और संस्कृत में रहस्यवाद पर लिखी पुस्तकों का अनुवाद फ़ारसी में किया। दिल्ली के आरंभिक सूफ़ियों की तरह बाद के चिश्ती सूफ़ियों ने समाज के सभी तबके के लोगों को अपना शिष्य बनाया। पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती चिश्तियों की मान्यताओं के विपरीत राज्य का संरक्षण स्वीकार किया।

16.8.3 नक्शबंदी *सिलसिला*

भारत में नक्शबंदी *सिलसिले* की शुरुआत ख्वाजा बाकी बिल्लाह (1563-1603) ने की। इस *सिलसिले* के संस्थापक ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंदी (1317-1389) थे। बाकी बिल्लाह इस संप्रदाय के सातवें उत्तराधिकारी थे। आरंभ से इस *सिलसिले* के संतों ने इस्लाम के कानून (*शरियत*) पर काफी बल दिया और उन सभी *बिद्दतों* (धर्म में नई प्रथाओं का प्रयोग) की जमकर आलोचना की जिससे इस्लाम की शुद्धता पर आंच आती थी। इस प्रकार इसे *वहदत-उल वुजूद* के सिद्धांतों के खिलाफ एक प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। ख्वाजा बाकी बिल्लाह के प्रमुख शिष्य शेख अहमद सरहिंदी ने इस सिद्धांत की जमकर आलोचना की। उसने यह मत प्रचारित किया कि जिस ईश्वर ने विश्व को बनाया है उसकी तुलना मनुष्य के साथ नहीं की जा सकती। *वहदत-उल वुजूद* के स्थान पर उसने *वहदत-उल शुदूद* ('apparentism') की स्थापना की। उसके अनुसार 'अस्तित्व की एकता' वस्तुनिष्ठ नहीं बल्कि आत्मनिष्ठ अनुभव है। एक संत को ऐसा लग सकता है कि उसने ईश्वर से साक्षात्कार कर लिया है पर यथार्थ में ऐसा नहीं होता। आनंदतिरेक की स्थिति में वह ईश्वर में इतना खो जाता है कि वह अपना अस्तित्व खो बैठता है। पर यह एक अस्थाई अनुभव होता है और संत पुनः अपने को *अबदियत* (पराधीनता) की स्थिति में पाता है। शेख के अनुसार मनुष्य और ईश्वर का संबंध दास और मालिक या आराधक और आराध्य का होता है। यह प्रेमी और प्रेमिका का संबंध नहीं होता जैसा कि सूफ़ी आमतौर पर मानते हैं। वह इस बात पर बल देते हैं कि

ईश्वर और अपने सृजक के प्रति मनुष्य का संबंध निष्ठा और उत्तरदायित्व का होता है। ईश्वर के प्रति श्रद्धा भाव से ही मनुष्य और ईश्वर के बीच संबंध स्थापित होता है। केवल *शरियत* के माध्यम से ही मनुष्य उस असीम सत्ता का अनुभव कर सकता है। अतः शेख अहमद ने सूफ़ी रहस्यवादी सिद्धांत और कट्टरपंथी इस्लाम की शिक्षा को एक साथ मिलाने की कोशिश की इसलिए उन्हें इस्लाम का *मुजद्दिद* कहा जाता है। औरंगजेब *मुजद्दिद* के पुत्र ख्वाजा मुहम्मद मासूम का शिष्य था।

शाह वलीउल्लाह (1702-1762) एक जाने-माने विद्वान और नक्शबंदी *सिलसिले* के प्रमुख संत थे। उन्होंने *वहदत-उल वुजूद* और *वहदत-उल शुहूद* के दोनों सिद्धांतों को एक साथ मिलाने की कोशिश की क्योंकि उनका मानना था कि इन दोनों सिद्धांतों में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। उनके अनुसार इन दोनों विचारों में ईश्वर का अनुभव करने का तत्व छिपा हुआ है और ईश्वर का अस्तित्व स्वतंत्र है। इस संसार का अस्तित्व सत्य नहीं है, लेकिन फिर भी इसे काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता है। ऐसा मानना कि यथार्थ अनेक रूपों और बहुलताओं में परिलक्षित होता है वैसा ही है जैसे यह मानना कि निर्भर तत्व, मूल तत्व के नाम और गुणों की प्रतिछाया है। इसके बावजूद अगर कहीं थोड़ी बहुत भिन्नता भी है तो यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।

ख्वाजा मीर दर्द, प्रमुख उर्दू कवि, नक्शबंदी *सिलसिले* के एक अन्य प्रमुख संत थे। वह शाह वलीउल्लाह के समकालीन थे। अपने आंतरिक अनुभव के प्रकाश में उन्होंने *वहदत-उल वुजूद* की भी आलोचना की थी। उसके अनुसार आनंदातिरेक के नशे में सूफियों ने इस सिद्धांत की स्थापना की थी। अतः इस प्रकार का सिद्धांत न्यायोचित नहीं है। उन्होंने *वहदत-उल वुजूद* में आस्था रखने वाले लोगों की यह कहकर आलोचना की कि उन्हें 'यथार्थ' का कोई ज्ञान नहीं है। उनका यह भी मानना था कि ईश्वर के समक्ष दास बनकर ही पहुंचा जा सकता है।

भारत के लगभग प्रत्येक हिस्से में सूफ़ियों ने अपने केंद्र (*खानकाह*) स्थापित कर लिए थे जहां *पीर* के नेतृत्व में आध्यात्मिक चर्चा हुआ करती थीं। 17वीं शताब्दी के अंत तक संतों और *पीरों* की परंपरा चलती रही, इसके बाद इसका ह्रास शुरू हुआ। पर 18वीं शताब्दी में भी कुछ *खानकाह* आध्यात्मिक संस्कृति के प्रमुख केंद्र बने रहे। ऐसी *खानकाहों* में ख्वाजा मीर दर्द की *खानकाह* एक प्रमुख केंद्र थी जहां सम्राट शाह आलम अक्सर जाया करते थे।

16.8.4 अन्य सूफ़ी सिलसिले

चिश्ती और सुहरावर्दी *सिलसिलों* के अलावा इस काल में भारत में फिरदौसी, कादिरी, शत्तारी, **कलंदरी**, आदि *सिलसिले* भी स्थापित हुए। फिरदौसी *सिलसिला* सुहरावर्दी *सिलसिले* की एक शाखा था। इसकी स्थापना 14वीं शताब्दी में बिहार में राजगीर में हुई थी। भारत में इस सिलसिले के सर्वप्रमुख सूफ़ी शेख शरफुद्दीन याहिया मनेरी (मृत्यु 1380) थे।

मध्यवर्ती इस्लामी देशों में कादिरी सर्वप्रमुख सूफ़ी सिलसिला था। इसकी स्थापना अब्दुल कादिर जिलानी (मृत्यु 1166) ने बगदाद में की थी। 14वीं शताब्दी में यह संप्रदाय भारत आया और पंजाब, सिंध तथा दक्खन को अपना केंद्र स्थल बनाया। कादरियों का दृष्टिकोण कट्टरपंथी था और इनका सिद्धांत कट्टरपंथी *उलमा* से मेल खाता था। कादिरी सूफियों के कई प्रांतीय राज्यों के शासक वर्ग से संबंध थे और उन्होंने राज्य की सहायता स्वीकार की। यह संप्रदाय शहर में केंद्रित था और इसका उद्देश्य गैर-इस्लामी प्रभावों से ग्रस्त भारतीय मुसलमानों की धार्मिक जिंदगी में सुधार लाना था।

15वीं-16वीं शताब्दी के दौरान कश्मीर में सूफ़ी मत का ऋषि संप्रदाय स्थापित हुआ। इस संप्रदाय के उदय से पूर्व धर्म प्रचारक मीर सैयद हमादानी (1314-1385) इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए हमादान से अपने शिष्यों के साथ कश्मीर आए। हमादानी, उनके पुत्रों और शिष्यों के धार्मिक प्रचार का कश्मीर की जनता पर थोड़ा ही प्रभाव पड़ा। दूसरी तरफ, शेख नूरुद्दीन वली (मृत्यु 1430) द्वारा स्थापित ऋषि संप्रदाय मूलतः स्वदेशी था। यह कश्मीर के ग्रामीण परिवेश में फला-फूला और इसने 15वीं-16वीं शताब्दी के दौरान लोगों के धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। ऋषि संप्रदाय की लोकप्रियता का यही कारण था। इसके अतिरिक्त, इसने कश्मीर की लोकप्रिय शैव भक्ति परंपरा से भी प्रेरणा ग्रहण की। यह सिलसिला क्षेत्र के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में आकंठ डूबा हुआ था।

16.8.5 महदवी आंदोलन

पैगंबर मुहम्मद या उनके साथियों के काल से ही उद्धारकों (*महदी*) की परंपरा चली आ रही है। इस्लाम के इतिहास में हज़रत अली के पुत्र मुहम्मद अल-हराफिया पहले उद्धारक (*महदी*) माने जाते हैं। इसके बाद *महदियों* के आगमन का सिलसिला शुरू हुआ जो मुख्य रूप से आर्थिक और राजनीतिक आंदोलनों से जुड़े हुए थे। जौनपुर के सैय्यद मुहम्मद एकमात्र *महदी* थे जिन्होंने राजनीतिक सत्ता से अपने को नहीं जोड़ा और जो मुख्य रूप से अध्यात्मतावाद और इस्लाम के शुद्धिकरण से जुड़े रहे।

उन्होंने मक्का में अपने को उद्धारक (*महदी*) घोषित किया। भारत लौटने पर ऐसे *उलमाओं* ने उन पर काफी दबाव डाला जो उनके खिलाफ दुश्मनी का रवैया रखते थे। इसके बावजूद कुछ *उलमा* उनके शिष्य बने। *महदी शरीयत* के कानून के मुताबिक ईश्वर की आराधना करते थे। अल्लाह, उनके पैगंबर और उनकी पाक *कुरान* उनके लिए प्रमुख दिशा-निर्देशक थे। *महदवी* डेरों में रहा करते थे जहां वे *शरियत* के कानून का पालन किया करते थे। *महदवियों* के लिए *कुरान* के आदेश दो हिस्सों में विभक्त थे। *शरियत* से जुड़े ऐसे भाग जिनकी व्याख्या पैगंबर मुहम्मद ने की थी, और अंतिम *वली* या *महदी* की व्याख्या।

बाद वाले भाग में निम्नलिखित बातें शामिल हैं: संसार का त्याग, सत्य को अपनाना, मनुष्य मात्र से अलगाव, ईश्वर की इच्छा के प्रति समर्पण, ईश्वर की खोज, आय के दसवें हिस्से का विवरण, लगातार *ज़िक्र* (ईश्वर का) करना और प्रवास करना (*हिजरत*)। जौनपुर के सैय्यद मुहम्मद की मृत्यु के बाद *महदी* की शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के लिए कई डेरों की स्थापना की गई। इन डेरों में रहने वाले गुरुओं को *खलीफा* कहा जाता था। दीक्षा के लिए वे स्थानीय बोलियों का प्रयोग करते थे। *महदियों* के आत्म बलिदान और रहन-सहन के साधारण ढंग के कारण जनता इन डेरों की ओर आकृष्ट हुई। इन डेरों की स्थापना दक्षिण और उत्तर भारत में गुजरात, चंडीगढ़, अहमदनगर, बयाना आदि में हुई।

16.9 चिश्ती सिलसिले की लोकप्रियता के कारण

सल्तनत काल के सभी सूफ़ी संप्रदायों का उद्देश्य लगभग एक था – आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन में सूफ़ी मार्ग अपनाते हुए ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित करना। हां, प्रत्येक सूफ़ी संप्रदाय ने अलग-अलग अनुष्ठान और रीति-रिवाज़ अपनाए और राज्य तथा समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी अंतर था। इस काल के सभी संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और इसका प्रसार भी व्यापक क्षेत्र में हुआ। चिश्ती संप्रदाय के अनुष्ठान, दृष्टिकोण और प्रथाओं ने इसे मूलतः एक भारतीय *सिलसिला* बना दिया था।

इसकी लोकप्रियता के कारणों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है:

i) चिश्ती संप्रदाय की कई प्रथाएं भारत में स्थापित योगियों जैसे गैर-परंपरावादी संप्रदायों से काफी मिलती-जुलती थीं, जैसे ब्रह्मचारी और सन्यासी का जीवन व्यतीत करना, गुरु के समक्ष दंडवत करना, *सिलसिले* में शामिल होने वाले नए शिष्य का मुंडन करना, और भक्ति संगीत का आयोजन, आदि कुछ ऐसी ही प्रथाएं थीं। इस दृष्टि से, चिश्तियों को भारतीय परंपरा के एक हिस्से के रूप में देखा जाने लगा।

ii) चिश्तियों ने भारत में गैर-मुसलमान जनसंख्या के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का दृष्टिकोण अपनाया और अपने को भारतीय परिवेश में ढाल लिया। भारतीय अनुयायियों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए चिश्तियों ने भारतीय के प्रतीकों, मुहावरों, रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों को अपना लिया। बहुत से चिश्ती संतों ने अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए हिंदवी भाषा का प्रयोग किया।

iii) चिश्ती *खानकाहों* के समतावादी परिवेश ने भारतीय समाज के निचले वर्ग के सदस्यों को काफी संख्या में आकृष्ट किया। चिश्ती संत समाज के पिछड़े वर्ग के प्रति सहानुभूति रखते थे और इसने उनके धार्मिक दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया। चिश्ती *खानकाह* ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था से काफी दूर थे। व्यापारी, शिल्पी, किसान और यहां तक कि

सफाईकर्मी भी चिश्ती संप्रदाय का अनुयाई हो सकता था। न ही उन्होंने तुर्की के शासक वर्ग के प्रजातिगत विभाजन (कुलीन और अकुलीन) को स्वीकार किया।

iv) चिश्ती गुरुओं ने उच्च भावना से युक्त प्रेरणादायक नेतृत्व प्रदान किया। दरबार से वे दूर रहे और राज्य संरक्षण को उन्होंने अस्वीकार कर दिया, *उलमा* के कट्टरपंथी और बाहरी कर्मकांड संबंधी दृष्टिकोण को उन्होंने पूर्ण रूप से नकार दिया और इस्लाम की सरल मान्यताओं को सूफ़ी शिक्षा में घोल दिया। इन्हीं सब कारणों से चिश्ती संप्रदाय लोकप्रिय हुआ।

v) आरंभिक चिश्तियों को मरणोपरांत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। बाद की शताब्दियों में उनकी *दरगाहों* के आसपास संतों की उपासना के केंद्र बनने लगे। कालांतर में, दंतकथाओं और जीवन लेखन के माध्यम से इन चिश्तियों की जादुई शक्ति की गाथाएं फैलने लगीं। यह भी कहा जाने लगा कि उनकी जादुई शक्ति के कारण ही काफी लोग उनकी ओर आकर्षित हुए और उन्होंने गैर-मुसलमानों का धर्म परिवर्तन किया। आरंभिक चिश्ती संत चमत्कारी शक्ति की संभावनाओं में विश्वास रखते थे, पर उसके उपयोग को वे अस्वीकार करते थे। सूफ़ी मत और मान्यता में वे चमत्कार को प्रमुख तत्व नहीं मानते थे। पर आरंभिक चिश्तियों की लोकप्रियता बढ़ाने में चमत्कार संबंधी गाथाओं ने काफी सहयोग दिया और इससे उनकी *दरगाहों* को भी ख्याति मिली।

16.10 सूफ़ी और भक्ति आंदोलन और सांस्कृतिक समन्वय

सूफ़ी और भक्ति आंदोलनों के बीच कुछ समानताएं ऐसी हैं, जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ था। इन समानताओं में उल्लेखनीय है, एकेश्वरवाद पर जोर, आध्यात्मिक गुरु (*पीर* या *गुरु*) की भूमिका, ईश्वरीय रहस्यवादी मिलन। इसके अलावा भक्ति संतों और कई सूफियों ने क्रमशः हिंदू और इस्लाम धर्म के कट्टर और रूढ़िवादी तत्वों पर प्रहार किया। कश्मीर में स्थापित ऋषि *सिलसिला* सूफ़ी मत पर भक्ति आंदोलन के प्रभाव का प्रमाणिक उदाहरण है। यहां, इस *सिलसिले* के संस्थापक शेख नूरुद्दीन वली पर 14वीं शताब्दी की महिला भक्त लाल डेड का गहरा असर था।

सल्तनत काल के दौरान सूफियों और नाथपंथियों के बीच संबंध भी एक प्रमाणिक तथ्य है। 13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान उत्तर भारत में समाज के निचले तबके के बीच नाथपंथियों का आंदोलन बेहद लोकप्रिय हुआ। नाथपंथी योगी अक्सर चिश्ती शेखों की *खानकाहों* में पहुंच जाते थे और उनसे रहस्यवाद के स्वरूप पर बहस करते थे। सूफ़ियों के भारत आने के बहुत पहले संस्कृत में योग पर लिखे ग्रंथ *अमृतकुंड* का अनुवाद फ़ारसी में हो चुका था। इसका प्रभाव भी सूफ़ियों पर पड़ा और उन्होंने कई प्रकार की योग पद्धतियां अपना लीं। आरंभिक चिश्तियों ने नाथपंथी योगियों के कुछ नैतिक मूल्यों और उनकी सामूहिक जीवन पद्धति को सराहा। चिश्तियों के समान नाथपंथी योगियों ने भी बिना किसी भेदभाव के समाज के सभी वर्गों के लिए दरवाजे खोल दिए। इन दोनों लोकप्रिय आंदोलन के कारण मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच आपसी समझ कायम होने में सहूलियत हुई।

चिश्ती *सिलसिला* गैर-मुस्लिम परिवेश में भी लोकप्रिय हुआ, उसने अपने आपको उस परिवेश के अनुकूल ढाल लिया। इससे भारतीय परिवेश में एक समन्वयवादी धारा प्रवाहित होने लगी और संस्कृतिक मेलजोल को बढ़ावा मिला। कई आरंभिक चिश्ती हिंदवी बोलते थे और इसमें अपने पद लिखा करते थे। कई *खानक़ाहों* ने क्षेत्रीय भाषा में रहस्यवादी कविताओं को प्रोत्साहित किया। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुल्ला दाउद द्वारा लिखी गई हिंदी की पुस्तक *चंदायन* में रहस्यवाद के साथ हिंदू मिथक और दर्शन भी घुला-मिला हुआ है। कालांतर में सूफ़ियों द्वारा रचित लोक साहित्य में इस्लाम के हल्के-फुल्के विचार, सूफ़ी शब्दावली, लोकप्रिय प्रतीकों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार खासकर ग्रामीण इलाकों में लोकप्रिय धर्म का विकास हुआ। चिश्ती *सिलसिले* की प्रमुख प्रथा *समा* ने समन्वयवादी संगीत परंपरा की नींव रखी, जिससे *कव्वाली* जैसी विधा का विकास हुआ। अमीर खुसरो से *कव्वाली* की शुरुआत मानी जाती है।

बोध प्रश्न-3

1) सूफ़ीमत की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं?

....

....

....

....

2) सुहरावर्दी *सिलसिले* की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीतिए।

....

....

....

....

3) निम्नलिखित को चिह्नित कीजिए:

क) चिश्ती *सिलसिले* के पांच सूफ़ियों का नामोल्लेख कीजिए।

....

....

ख) भारत में फले-फूले पांच सूफ़ी *सिलसिलों* का उल्लेख कीजिए।

....

....

4) शेख निज़ामुद्दीन औलिया पर एक संक्षित टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

5) दिल्ली से बाहर बसे चिश्ती संतों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

6) भारत में चिश्ती सम्प्रदाय की लोकप्रियता के क्या कारण थे?

....

....

....

....

7) *वहदत-अल वुजूद* से आप क्या समझते हैं? सूफ़ी मत और भक्ति आंदोलन के बीच के आदान-प्रदान पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

16.11 सारांश

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी पूर्व के असनातनी आंदोलन के बाद, सल्तनत काल में भक्ति आंदोलनों का उदय हुआ, जिसका आयाम काफी व्यापक था। यह तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक माहौल की ऊपज था। इन्होंने समय-समय पर नए सामाजिक-धार्मिक विचार और मान्यताएं सामने रखीं और समाज को प्रभावित किया। भक्ति आंदोलन के दौरान विकसित बहुत सी प्रथाएं हिंदू धर्म में आज भी अस्तित्व में हैं, जैसे ईश्वर का नाम बार-बार जपना, सत्संग में भाग लेना, और *संकीर्तन* का आयोजन करना। इन आंदोलनों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म हुआ, सिक्ख जैसे नए धार्मिक समुदाय कायम हुए और कई संप्रदायों या *पंथों* का उदय हुआ।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पूर्व ही सूफियों का भारत में आगमन हो गया था। इस्लामी दुनिया के सूफ़ी मत की आधारभूत विशेषताएं भारत के सूफ़ी मत में कायम रहीं। इस्लामी दुनिया में यह 10वीं-12वीं शताब्दी के दौरान एक संगठित आंदोलन के रूप में उभरा। 12वीं-13वीं शताब्दी में कई सूफ़ी मत या *सिलसिले* कायम हुए। इस्लामी दुनिया के समान दिल्ली सल्तनत के काल में भारत में अनेक सूफ़ी मत लोकप्रिय हुए। इनमें सुहरावर्दी और चिश्ती सिलसिले सर्वप्रमुख हैं। भारत में लोकप्रियता में चिश्ती सिलसिले का नाम सबसे ऊपर आता है। विवेच्य काल के सामाजिक जीवन में सूफ़ियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। आमतौर पर सूफ़ी राजकीय मामलों से नहीं जुड़े, पर कई मामलों पर हम देखते हैं कि सूफ़ी संतों ने राजकीय गतिविधि में हस्तक्षेप किया और राजकीय संरक्षण और दान भी कबूल किया। इस पूरे काल में सूफ़ी और उलेमा के बीच अविश्वास का भाव बना रहा। उलेमा ने सूफ़ियों की कई प्रथाओं को नामंजूर कर दिया।

खानक़ाह सूफियों और उनके शिष्यों की गतिविधियों का केंद्र थे। भारत का सूफ़ी आंदोलन समकालीन इस्लामी दुनिया में रहस्यवादी विचारों में हो रहे बदलाव से प्रभावित होता रहा। भारत में सूफ़ी और भक्ति आंदोलन के बीच लगातार आदान-प्रदान होता रहा। इस आदान-प्रदान का सल्तनत काल के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इस आदान-प्रदान से कला, संगीत और साहित्य के क्षेत्र में सांस्कृतिक मेल-मिलाप को भी बल मिला।

16.12 शब्दावली

आदि ग्रंथ : सिखों का सबसे पवित्र धर्म ग्रंथ जिसे 1604 में सिख गुरु अर्जन ने संकलित किया था। बाद में इसे *गुरु ग्रंथ साहब* के नाम से जाना जाने लगा

भगत : भक्त, उपासक का अपभ्रंश रूप

दरगाह : सूफ़ी मज़ार या कब्र

फुतूह : सम्मानपूर्वक आमदनी

खानक़ाह : सूफ़ी संतों के रहने का स्थान

मलफूज़ात : सूफ़ी साहित्य

निर्गुण : निराकार स्वरूप

पंथ : मार्ग, संप्रदाय, किसी खास एकेश्वरवादी संत से जुड़ा हुआ, जैसे कबीरपंथ, नानकपंथ, दादूपंथ, आदि

कलंदर : मुसलमान भिक्षुक, जो सब कुछ त्याग कर घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते थे

सगुण : साकार स्वरूप

समा : सूफी महफिल में सामूहिक संगीत गान

वैष्णव : विष्णु के उपासक

16.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 16.5
2) देखें भाग 16.5
3) देखें भाग 16.3
4) देखें भाग 16.4
5) देखें उप-भाग 16.5.2

बोध प्रश्न-2

1) देखें उप-भाग 16.5.5
2) देखें उप-भाग 16.5.4
3) देखें उप-भाग 16.5.4 और 16.5.5

बोध प्रश्न-3

1) देखें भाग 16.6
2) देखें उप-भाग 16.8.1
3) देखें भाग 16.8 देखें, खास तौर पर उप-भाग 16.8.2
4) देखें उप-भाग 16.8.2
5) देखें उप-भाग 16.8.2
6) देखें भाग 16.9
7) देखें भाग 16.6 और 16.10

16.14 संदर्भ ग्रंथ

चंद, तारा, (2006) (पुनः मुद्रित) *इनफ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर* (नाबू बुक).

कृष्णमूर्ति, आर., (1961) *अकबरः द रिलीजियस एस्पेक्ट* (बड़ौदाः महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी).

शर्मा, एस. आर., (2001) (पुनः मुद्रित) *द रिलीजियस पॉलिसी ऑफ द मुगल एंपरर्स* (बुक एंक्लेव).

16.15 शैक्षणिक वीडियो

रोल ऑफ भक्ति मूवमेंट इन इंडियन हिस्ट्री | राज्यसभा टी वी
https://www.youtube.com/watch?v=tFClKGI1Ybs

सूफिज्म इन इंडियाः राइज़ एंड ग्रोथ | सी.ई.सी-यू.जी.सी
https://www.youtube.com/watch?v=iTmwmvnsWBA

द इंडियन स्टोरीः सूफ़ी कल्चर ऑफ इंडिया | डी. डी. न्यूज
https://www.youtube.com/watch?v=y8N7iDYhgVw

इकाई 17 वास्तुकला एवं चित्रकला*

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 दिल्ली सल्तनत के अधीन वास्तुकला
 17.2.1 नए संरचनात्मक रूप
 17.2.2 शैलीगत विकास
 17.2.3 सार्वजनिक भवन एवं सार्वजनिक कार्य
17.3 मुगलों के अधीन वास्तुकला
 17.3.1 मुगल स्थापत्य की शुरुआत
 17.3.2 शासनांतरालः सूर स्थापत्य
 17.3.3 अकबर कालीन स्थापत्य
 17.3.4 जहांगीर और शाहजहां कालीन स्थापत्य
 17.3.5 अंतिम चरण
17.4 दिल्ली सल्तनत के अधीन चित्रकला
 17.4.1 भित्ति चित्रों के साहित्य प्रमाण
 17.4.2 कुरान लिखने की सुलेखन कला
 17.4.3 पांडुलिपि चित्रण
17.5 मुगलों के अधीन चित्रकला
 17.5.1 पृष्ठभूमिः 15वीं शताब्दी में चित्रकला
 17.5.2 आरंभिक मुगल कालीन चित्रकला
 17.5.3 अकबर के शासनकाल में मुगल शैली का विकास
 17.5.4 जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल में विकास
 17.5.5 अंतिम चरण
 17.5.6 मुगल चित्रकला पर यूरोप का प्रभाव
17.6 सारांश
17.7 शब्दावली
17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
17.9 संदर्भ ग्रंथ
17.10 शैक्षणिक वीडियो

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपः

- इस्लाम से पूर्व एवं हिंद-इस्लामी भवन निर्माण शैली में भेद कर सकेंगे,
- तत्कालीन वास्तुकला की विभिन्न शैलियों को पहचान सकेंगे,
- दिल्ली सल्तनत में प्रचलित चित्रकारी की परंपरा को जान सकेंगे,
- मुगल स्थापत्य के नए रचनात्मक स्वरूप और तकनीकों को समझ सकेंगे, और
- मुगल चित्रकला के मुख्य तत्वों को पहचान सकेंगे।

***प्रो. रविंद्र कुमार, इतिहास संकाय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली**

17.1 प्रस्तावना

कला एवं वास्तुकला अपने समय की संस्कृति की वास्तविक अभिव्यक्ति हैं क्योंकि वे उस समाज के मनोभावों और दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती है। इससे समाज के विचारों और तकनीकों को दृष्टिगत अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। भारत में तुर्की शासन की स्थापना कई मामलों में महत्वपूर्ण है। उसने कला और वास्तुकला के क्षेत्र में नई अभिव्यक्तियों को जन्म दिया। वास्तुकला की जो शैली इस काल में विकसित हुई वह हिंद-इस्लामी (Indo-Islamic) शैली कहलाई।

1526 में भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना से हिंद-इस्लामी स्थापत्य को एक नया स्वरूप प्राप्त हुआ। नए शासकों ने प्रचलित स्थापत्यगत प्रकारों और तकनीकों के साथ मध्य एशिया और ईरान की तकनीकों का सुंदर सम्मिश्रण प्रस्तुत किया। इस प्रकार के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारत में कई भव्य भवनों का निर्माण हुआ।

वास्तुकला के विपरीत, दिल्ली सल्तनत में प्रचलित चित्रकारी की कला के विषय में अधिक सामग्री नहीं मिलती। हम जानते हैं कि बारहवीं शताब्दी के अन्त तक इस्लामी दुनिया में सुलेखन (calligraphy) की कला एवं पांडुलिपि-चित्रण (book-illumination) अपनी चरमसीमा पर था। गज़नी शासन में भी दीवारों पर अलंकारिक चित्रकारी (murals) की विकसित परम्परा मौजूद थी। संभव है कि यही परम्परा प्रांरभिक तुर्की सुल्तानों द्वारा दिल्ली लाई गई हो, जहां यह तेरहवीं और चौदहवीं सदी में फली-फूली।

कला तथा वास्तुकला के क्षेत्र में दिल्ली सल्तनत तथा मुगल कालीन विकासों के विपरीत क्षेत्रीय राज्यों में कला एवं वास्तुकला ने अलग रास्ता अपनाया। जहां सल्तनत तथा मुगल वास्तुकला का विकास मुख्यतः हिंद-इस्लामी शैली के तकनीकी विकास के कारण हुआ, क्षेत्रीय राज्यों के संरक्षण ात्व में संरचनाओं के प्लान और भवनों में क्षेत्रीय विविधता का समावेश हुआ। यहां हम क्षेत्रीय विकास की विस्तृत व्याख्या में नहीं जाएंगे।

इस इकाई में हम दिल्ली सल्तनत और मुगल शासन के दौरान चित्रकला और वास्तुकला के क्षेत्रों में इन गतिविधियों के बारे में पढ़ेंगे।

17.2 दिल्ली सल्तनत के अधीन वास्तुकला

वास्तुकला के मुख्य स्रोत भवनों के विद्यमान अवशेष हैं। यद्यपि यह अपने समय की वास्तुकला की प्रचलित तकनीकों और शैलियों को समझने में सहायता प्रदान करते हैं लेकिन वास्तुकला से संबंधित अन्य दूसरे पक्षों जैसे, वास्तुकार की भूमिका, नक्शे एवं भवनों के अनुमानित खर्च और हिसाब को समझने में कम मददगार सिद्ध हुए हैं।

तुर्की सुल्तान अपने साथ वह संस्कृति लाए जिसमें स्थानीय तथा इस्लामिक परंपराओं का समन्वय था। इस संश्लेषित संस्कृति की सार्वजनिक, प्रभावपूर्ण और विशिष्ट अभिव्यक्ति उस काल की कला और वास्तुकला में देखने को मिलती है।

17.2.1 नए संरचनात्मक रूप

हम अपने अध्ययन का आरंभ विशिष्ट 'नवीन' शैली के पर्यवेक्षण के साथ करते हैं – जिसके कारण 13वीं शताब्दी में पक्के भवनों के निर्माण में विशिष्ट वृद्धि हुई। संभवतः भवन निर्माण में प्रयुक्त चूना-गारा के सीमेंट के रूप में प्रयोग ने भवनों को बेहतर जीवंतता तथा स्थायित्व प्रदान किया। यह कैसे हुआ तथा कौन से नए रचनात्मक रूपों ने भवनों को जीवंतता तथा स्थायित्य प्रदान किया इन सबकी हमारे द्वारा आगे के विवरण में विस्तृत व्याख्या की जाएगी।

i) मेहराब और गुम्बद

1865-1877 के मध्य भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट का गहन अध्ययन करने से पता चलता है कि उत्तर भारत में 13वीं शताब्दी के बाद पक्की इमारतों – जिसमें नगरों में स्थित नागरिक भवन भी शामिल हैं – में तीव्र गति से वृद्धि हुई। इसका मुख्य कारण भवनों में चूना-गारा का सीमेंट के रूप में प्रयोग होना तथा नवीन संरचनात्मक रूप अर्थात् मेहराब का

प्रयोग था। इसके अतिरिक्त, मेहराब के विस्तृत रूप, गुंबद (dome), का प्रयोग भी भवनों की छतों को बनाने के लिए, भवन निर्माण शैली के रूप में किया गया। और जैसा कि पुरातत्व सर्वेक्षण रिपोर्ट में वर्णित किया गया है इन नवीन तकनीकियों ने अधिक स्थायित्व और इस प्रकार भवनों को दीर्घायु प्रदान की। अंतः हिंद-इस्लामी वास्तुकला के विकास को सही रूप में समझने के लिए हमारे लिए यह महत्वपूर्ण है कि हम स्पष्ट रूप से इन तकनीकियों और वास्तुकला रूपों को विस्तृत रूप से समझें।

यह ध्यान देने योग्य है कि नवीन चूना-गारा सीमेंट का प्रयोग और नवीन रचनात्मक रूप एक समकालिक प्रक्रिया थी जो कि एक-दूसरे की संपूरक थी। आइए चलें हम दोनों विशिष्ट लक्षणों का विस्तृत विश्लेषण करें।

जैसा कि आप **इकाई 14** में पढ़ चुके हैं वैज्ञानिक तरीके से मेहराबों को बनाने के लिए वक्राकार डाट-पत्थर (voussoirs) के रूप में ईंटों को लगाने की अवाश्यकता पड़ती है जिन्हें एक-दूसरे से जोड़ने के लिए अच्छे सीमेंट पदार्थ की आवश्यकता होती है। यह अच्छा जोड़ने वाला पदार्थ चूना-गारा था (**चित्र 1**)।

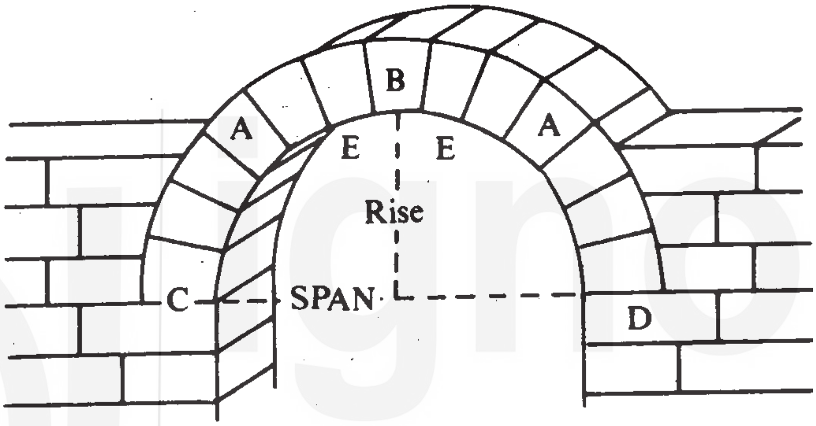

चित्र 1

इस नई तकनीक के परिणामस्वरूप तुर्कों से पूर्व प्रचलित शैलियां – स्तंभ और धरनी (lintel-and-beam) और कदलिकाकृत (corbelling) का स्थान वैज्ञानिक तरीके से बनी मेहराबों (arches) और छतों (vaults) ने ले लिया। इसी प्रकार, तुर्कों से पूर्व के काल में प्रयुक्त *शिखरों* (spired roofs) का स्थान गुंबदों (domes) ने ले लिया। मेहराबों को विभिन्न आकारों में बनाया जाता है लेकिन भारत में इस्लामी दुनिया में प्रचलित नुकीले रूप को प्रत्यक्षतः ग्रहण किया गया। और 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नुकीले आकार की मेहराबों का दूसरा रूप, चार कोने वाली मेहराब, तुगलक सुल्तानों द्वारा अपने भवनों में प्रयुक्त की गई। यह रूप सल्तनत के अंत तक प्रचलित रहा (इन रूपों को **चित्र 2** में दर्शाया गया है)।

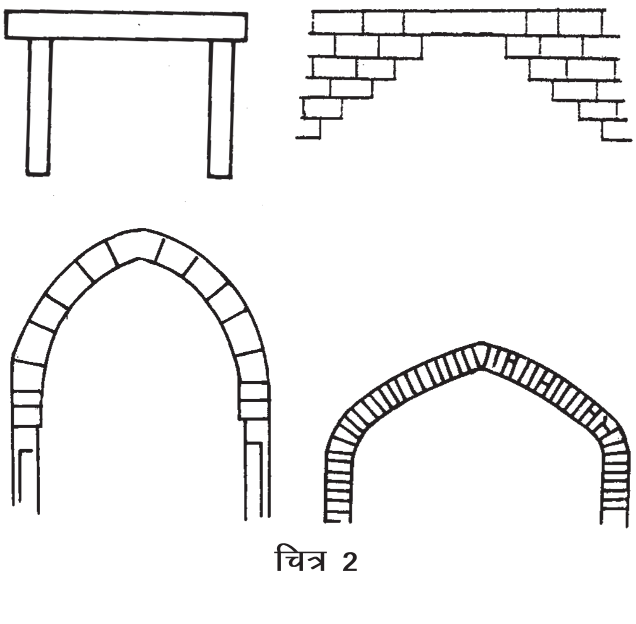

चित्र 2

इस्लामी दुनिया में नुकीली मेहराबों का प्रयोग इसके टिकाऊपन और निर्माण की आसानी की वजह से पहले ही अपनाया गया था। नुकीली मेहराब बनााने का सामान्य तरीका था केन्द्र में कम वजन और इसके ऊपर ईंट की एक परत लगाना। यह परत दूसरी चपटी ईंटों की पतली परत को आधार प्रदान करती थी जिस पर मेहराब के विकरणी डाट-पत्थरों (radiating voissoirs) को गारे से जमाया जाता था। ये ईंट की दोहरी परतें आवश्यकता पड़ने पर मेहराब के लिए स्थायी कवच का काम करती थीं (**चित्र 3**)। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि लकड़ी के आधार की जगह ईंटों का प्रयोग उन क्षेत्रों की मुख्य्य विषेषता थी, जहां लकड़ी की कमी थी जैसे – पश्चिमी एशिया और भारत।

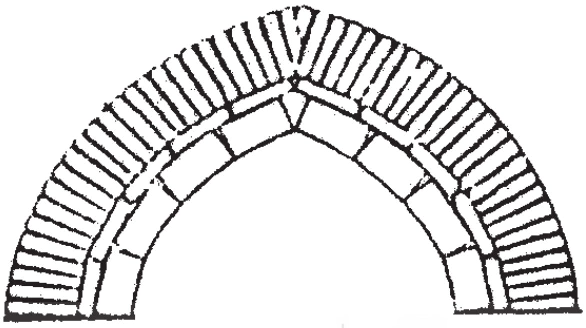

चित्र 3

लेकिन गुम्बदों के निर्माण के लिए विशेष तकनीक की आवश्यकता थी। समस्या एक ऐसे उपयुक्त तरीके की थी जो गोलाकार गुम्बद के निर्माण के लिए कमरे की वर्गाकार अथवा आयताकार दीवारों को गोलाकार गुम्बद के रूप में परिवर्तित कर सके। इस समस्या से मुक्ति का सबसे सही उपाय था कि एक छोर से दूसरे छोर तक वर्गाकार विन्यास को बगली डाट (squinches) की मदद से बहुभुजीय योजना में बदल दिया जाए जैसा कि **चित्र 3** में दिखया गया है । बाद में पंद्रहवीं शताब्दी में आरोही-निक्षेपों (stalactite pendentives) को इस उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाया गया। उदाहरण के लिए, बड़ा गुम्बद मस्जिद, नई दिल्ली।

ii) भवन-निर्माण सामग्री (Building Material)

यह जानने योग्य तथ्य है कि भारत में प्रांरभिक तुर्की भवनों में बहुत कम ऐसे उदाहरण हैं जिनमें वास्तुकारों द्वारा खान से निकाले हुए नए पदार्थों का प्रयोग किया गया हो। उस समय तुर्की काल से पूर्व के भवनों में प्रयुक्त नक्काशीदार लाटों, स्तम्भों, मीनारों (shafts), तख्तों (lintels) आदि के प्रयोग का आम प्रचलन था। भारत में चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब ऐसी सामग्री की आपूर्ति में कमी हो गई तो खान से निकाले हुए अथवा स्वयं निर्मित सामग्री के द्वारा भवन-निर्माण किया गया।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अपनी मजबूती के कारण पक्की इमारतों में पत्थरों का प्रयोग बहुतायत से हुआ। नींव खुरदरे और छोटे कंकड़ों से भरी गई अथवा उपलब्धता के अनुसार नदियों के चिकने पत्थरों का प्रयोग किया गया; जबकि भवनों के ऊपरी ढांचा बनाने में अच्छे पत्थरों या ऊबड़-खाबड़ आकार वाले पत्थरों का इस्तेमाल हुआ। हालांकि दोनों ही तरीकों में समस्त भवन अच्छी तरह से प्लास्टर किये गये। पर्सी ब्राउन (1942) ने लिखा है कि खलजी कालीन भवनों में पत्थरों को जोड़ने के लिए एक नए तरीके का प्रयोग किया गया। इसमें पत्थरों को दो तरह से लगाया गया – शीर्ष (headers) और फैलाव (stretchers) विधि से। इस शैली का प्रयोग आगामी भवनों में भी किया गया और यह शैली मुगलों की भवन-निर्माण तकनीक की विशेषता बनी।

भवनों को प्लास्टर करने में प्रायः खड़िया (जिप्सम) का प्रयोग किया गया। चूने के प्लास्टर का प्रयोग पानी रिसने वाली जगहों के लिए सुरक्षित रखा गया, जैसे, छतें, नील बनाने के लिए हौज (indigo-vats), नहरें, नालियां इत्यादि। बाद में लगभग पंद्रहवीं शताब्दी के आसपास जब गचकारी का कार्य (stucco work) आम प्रचलन में आ चुका था तो दीवारों और छतों के प्लास्टर के लिए खड़िया मिट्टी के गारे को वरीयता दी गई।

iii) **साज-सज्जा**

इस्लामी भवनों में साज-सज्जा की कला ने इमारत की विशेषताओं को प्रदर्शित करने के बजाय उसे छुपा दिया। चूंकि प्राणियों के चित्रण को हतोत्साहित किया जाता था, अधिकतर मामलों में सजावट के तत्व (क) सुलेख (calligraphy), (ख) ज्यामिती, और (ग) फूल-पत्तियों या बेलबूटों तक ही सीमित थे।

फिर भी, इनके दक्षतापूर्ण प्रयोग द्वारा सल्तनत कालीन भवनों ने एक राजसी और वैभवशाली आभा प्राप्त की। लेकिन किसी भवन के लिए विशेष प्रकार की सज्जा निश्चित नहीं थी। इसके विपरीत दिल्ली सल्तनत के समस्त भवनों में इस्लामी सजावट के तरीकों का प्रयोग किया गया था।

इस समय के भवनों मे साज-सज्जा की कला में सुलेखन का एक महत्वपूर्ण स्थान था। *कुरान* की आयतें भवनों पर सीधी, सौम्य, भाषा के रूप में कूफ़ी लिपि में खुदी हैं। ये लेखन भवनों के किसी भी भाग में जैसे, दरवाजे, छत, चौखट, ताख आदि में पाया जा सकता है और विविध प्रकार के रूपों जैसे, पत्थर, गचकारी और चित्रकला में देखा जा सकता है

इन भवनों में ज्यामितीय आकारों का प्रयोग बड़े ही अमूर्त रूप में विभिन्न सम्मिश्रणों में किया गया है। इनके डिजाइनों में दृष्टिगत तत्वों जैसे, पुनरावृत्ति, एकरूपता एवं नमूनों की सातत्यता के निमाण का समावेश है। डालू जोन्स (मिशेल, 1978) ने सुझाव दिया है कि वृत्त इस ज्यामिति-कला की उत्पत्ति का मूल है जिसे वर्गाकार, त्रिकोण या बहुकोण के रूप में विकसित किया जा सकता है। इसको बढ़ा-घटाकर पुनरावृत्ति और एकरूपता के द्वारा और आगे विस्तृत किया जा सकता है।

पत्रण कला (foliations) द्वारा सजावट का प्रमुख तरीका *अरबेस्क* था जो सल्तनत कालीन भवनों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसको एक अनवरत तने के रूप में जाना जाता है, जो बराबर विभाजित होते रहते हैं और जिससे अनेक दूसरे पत्ती वाले तने विकसित होते रहते हैं जो पुनः विभाजित हो सकते हैं अथवा मुख्य तने से दोबारा जुड़ जाते हैं। इस नमूने की पुनरावृत्ति त्रि-आयामी प्रभाव के साथ एक सुन्दर संतुलित नमूने को जन्म देती है।

बोध प्रश्न-1

1) 13 वीं शताब्दी के बाद पक्की इमारतों में वृद्धि के क्या कारण थे?

....

....

....

....

2) गुम्बद वाली छत बनाने में किस समस्या का सामना करना पड़ता है?

....

....

....

....

3) सल्तनत कालीन वास्तुकला में साज-सज्जा के मुख्य तत्व कौन-से थे?

....

....

....

....

17.2.2 शैलीगत विकास

i) **प्रारंभिक रूपः** हिन्द-इस्लामी वास्तुकला का इतिहास 1192 में तुर्कों द्वारा दिल्ली पर आक्रमण के साथ शुरू होता है। तोमर शासकों का किला, लाल कोट, जिसे इसके चौहानों द्वारा विस्तार

के बाद राय पिथौरा का किला कहते हैं, कुतबुद्दीन ऐबक ने अपने कब्जे में कर लिया था। यहां उसने जामा मस्जिद बनाना शुरू किया जो 1198 बनकर तैयार हुई। मस्जिद पर लगे शिलालेख के अनुसार इसे कुव्वत-उल इस्लाम के नाम से जाना गया और इसका निर्माण विजेताओं द्वारा सत्ताईस हिन्दू और जैन मंदिरो को तोड़कर इसके अवशेषों द्वारा किया गया था। पुनः 1199 में मस्जिद के पूजा स्थल के सामने एक वृहत् आवरण एक ऊंची मेहराब के साथ बनाया गया। इन दोनों निर्माण कार्यों मे स्थानीय भवन निर्माण वास्तुकारों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। धरनी व स्तम्भ (lintels), नक्काशीदार स्तम्भों और चबूतरों का प्रयोग उनके नक्काशीदार हिस्सों को अंदर घुमाकर अथवा नीचे या ऊपर करके किया गया। आवरण की महराबें कदलिकाकृत शैली द्वारा बनाई गई थीं। आवरण की सजावट, अवधारणा में पूर्णरूपेण हिन्दू थी।

लेकिन हिन्दू वास्तुकला से लिए गए तत्वों को शीघ्र ही निकाल दिया गया और परिपक्व हिन्द-इस्लामी शैली में उसके बहुत थोड़े अवशेष बाकी रहे। इस चरण के बाद की इमारतों में, जैसे कुतुब मीनार (1199-1235), अढ़ाई दिन का झोपड़ा (लगभग 1200) और इल्तुतमिश का मकबरा (1233-34), यद्यपि कदलिकाकृत शैली को एक महत्वपूर्ण संरचनातमक तकनीक के दर्जे से नहीं हटाया जा सका लेकिन इस समय तक साज-सज्जा पूरी तरह से इस्लामी हो गई थी। इस संबंध में इल्तुतमिश के मकबरे (1233-34), जो अब नष्ट हो गया है, की गुम्बदनुमा छत में प्रयोग किए गए सिद्धांत विशेष रुचि के हैं। यद्यपि गुम्बद को कदलिकाकृत शैली से बनाया गया था, इसको चौकोर कक्ष के कोनों पर बगली डाट (squinches) की मदद से स्थापित किया गया था। पर्सी ब्राउन के अनुसार शायद यह भारत की संक्रमण काल की समस्याओं के समाधान की दिशा में पहला कदम है।

हमारे द्वारा वर्णित प्रारंभिक काल की वास्तुकला शैली का चरमोत्कर्ष बलबन के मकबरे में दिखाई देता है जिसका निर्माण 1287-88 के लगभग किया गया था। अब यह खण्डहर की शक्ल में है लेकिन हिन्द-इस्लामी वास्तुकला के विकास में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यहां प्रथम बार वैज्ञानिक तरीके से बनाई गई मेहराब का प्रयोग किया गया है।

ii) **खलजीः** खलजी वास्तुकला के साथ-साथ जैसा कि कुतब परिसर में अलाई दरवाजा (1305) और निज़ामुद्दीन में जमात खाना मस्जिद (1325) में वास्तुकला शैली में एक विशेष परिवर्तन की झलक दिखाई देती है। हिन्द-इस्लामी वास्तुकला के विकास में इस काल का मुख्य स्थान है क्योंकि इस काल के वास्तुशिल्प पर सेल्जुक (एक तुर्की जाति, जिसने मध्य एशिया और एशिया माइनर पर 11-13 शताब्दी में शासन किया) वास्तुशिल्प परम्परा का प्रभाव है। साथ ही इसमें सरंचना संबंधी कुछ विशेषता भी विकसित हुई जिन्हें बाद में प्रयुक्त शैलियों में ग्रहण किया गया। इस काल की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

क) वैज्ञानिक तकनीकों से बनाई गई मेहराबों का प्रयोग, आकार में नुकीली, घोड़े की नाल नुमा।

ख) बगली डाट (squinch) के अंतर्गत आलेदार मेहराबों के साथ वैज्ञानिक तरीके से बनाए गए गुम्बदों का उदय।

ग) नई भवन निर्माण सामग्री के रूप में लाल पत्थरों और सुसज्जित नक्काशीदार संगमरमर का प्रयोग।

घ) मेहराब की निचली सतह पर 'कमल कली' की झालर का प्रयोग – एक सेल्जुक विशेषता।

च) नए पक्के अग्रभाग का उदय जिसमें – चिनाई करने में परत में पत्थर या ईटों को उसके संकीर्ण भाग की तरफ से (headers) और दूसरी परत में पत्थर या ईटों को उसके चौड़े लंबे भाग से लगाकर (stretchers) चिनाई की जाती थी – पुनः एक सैल्जुक विशेषता।

इसके अतिरिक्त सुसज्जा की विशेषता जैसे, सुलेखन कला, ज्यामितीय एवं *अरबेस्क* (arabesque) आदि का उपयोग अधिक मात्रा में होने लगा।

iii) **तुगलकः** इस काल के भवनों में नई वास्तुकला शैली का प्रयोग हुआ। अवशेषों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस वंश के सिर्फ प्रथम तीन शासकों ने ही वास्तुकला में अपनी रुचि दिखाई। इस काल की वास्तुकला को मुख्य दो भागों में बांट सकते हैं – पहला समूह ग़ियासुद्दीन और मुहम्मद तुगलक की वास्तुकला से संबंधित है; दूसरा फिरोज़ तुगलक से।

वास्तुकला की तुगलक शैली की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

क) मुख्य भवन निर्माण सामग्री खुरदुरे पत्थर (कंकड़) थी और अधिकांश दीवारें प्लास्टर की हुई होती थीं।

ख) दीवारें एवं बुर्ज अधिकतर अंदर की तरफ झुके हुए होते थे। इसे कोनों पर प्रखर रूप से देखा जा सकता है।

ग) चार कोनों वाली नई मेहराब के सीमित और शायद प्रयोगात्मक प्रयोग ने इसके आधार के लिए धरनी की आवश्यकता को आवश्यक बनाया। इस तरह की मेहराब–धरनी (arch-beam) का सम्मिश्रण तुगलक शैली की मुख्य विशेषता थी। नुकीली घोड़े की नालनुमा मेहराब की प्रचलित शैली को इसकी संकीर्ण परिधि तथा अधिक जगह घेरने की अयोग्यता के कारण उपयोग में लाना बंद कर दिया गया।

घ) प्रचलित दबी हुई गर्दन वाले गुम्बदों की जगह नए स्पष्ट रूप से उभरी हुई गर्दन वाले नुकीले गुम्बदों का प्रयोग।

च) भवनों की पट्टिकाओं की सजावट के लिए सफेद टाइल्स का उपयोग।

छ) इस काल में अष्टभुजीय मकबरों का उदय हुआ जिन्हें सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में मुगल शासकों ने अपनाया एवं उसे पूर्णता प्रदान की।

इसके अतिरिक्त एक अन्य विशेषता सजावट का कम प्रयोग था। अब यह मेहराबों के नक्काशीदार किनारों और चापस्कंध (medallion) के प्लास्टर अथवा दीवारों पर गोलाकार चित्रों तक सीमित रह गई थी।

iv) **अन्तिम चरण**: फिरोज़ शाह तुगलक की मृत्यु (1388) के बाद एक दशक के अंदर ही सल्तनत में राजनीति अस्थिरता व्याप्त हो गई और 1398 में सल्तनत तैमूर द्वारा छिन्न-भिन्न कर दी गई। फिर भी, सैय्यद एवं लोदी वंशों के समय केन्द्रीय शक्ति के कुछ अवशेष रह गए थे। यद्यपि उसका आकार काफी सिकुड़ गया था। उन्होंने 1414 और 1526 के बीच, दिल्ली की सल्तनत पर शासन किया। उन्होंने दिल्ली में तथा दिल्ली के आसपास इतने मकबरे बनवाए कि दिल्ली कुछ समय के अंदर एक फैले हुए कब्रिस्तान की तरह लगने लगी।

लेकिन वास्तुकला के दृष्टिकोण से इनकी कुछ इमारतें बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं और एक विशेष शैली की शुरुआत मानी जा सकती है। इन मकबरों के निर्माण में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इनके दो अलग रूप हैं। इनकी महत्वपूर्ण विशेषता निम्नलिखित है:

क) मकबरे अष्टभुजीय योजना पर बनाए गए हैं जिसके मुख्य तत्व हैं:

- मेहराबनुमा बरामदों से घिरा हुआ मुख्य समाधि-कक्ष
- एक मंजिल ऊंचाई
- बरामदे के बाहर निकली हुई ओरी (eaves) जो आलम्बन के लिए टेक पर टिकी हुई थी

ख) दूसरे प्रकार की इमारतें वर्गाकार योजना पर आधारित हैं, इसके मुख्य तत्व हैं:

- मुख्य समाधि-कक्ष के आसपास बरामदे का न होना
- बाहरी भाग कभी-कभी दो या तीन मंजिला ऊंचा
- ओरी (eaves) एवं समर्थन देने वाले टेक का अभाव

इन भवनों की सजावट के लिए रंगीन खपरैल (tiles) का मौलिक प्रयोग किया गया। चित्रवल्लरी (frieze) पर कहीं-कहीं इनका प्रयोग किया गया है। साथ ही प्लास्टर की सतह पर गहनता से नक्काशी की गई थी।

1526 में दिल्ली सल्तनत का पतन मुगल आक्रमणकारी बाबर के हाथों अंतिम लोदी सुल्तान की हार के साथ हुआ। इसके साथ ही वास्तुकला की सल्तनत शैली का भी अंत हो गया जो पन्द्रहवीं शताब्दी में ही अपनी गतिहीनता का संकेत दे चुका था।

17.2.3 सार्वजनिक भवन तथा सार्वजनिक कार्य

आपने हमारे सल्तनत वास्तुकला के विकास की चर्चा में देखा होगा कि केवल शाही संरचनाओं जैसे, महल, किले, मकबरे और मस्जिद का विवरण दिया गया है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरे तरह के भवनों का अस्तित्व ही नहीं था या कम महत्वपूर्ण थे।

आम धारणा, कि शाही भवनों को छोड़कर अन्य संरचनाओं की संख्या कम थी, के विपरीत हमने पाया कि ये संरचनाएँ संख्या में शाही भवनों से कहीं अधिक हैं। इन भवनों में *सराय*, पुल, सिंचाई के तालाब, कुएं और बावली, बांध, *कचहरी* (प्रशासकीय भवन), कैदखाना, *कोतवाली* (पुलिस स्टेशन), *डाक चौकी*, *हम्माम* (सार्वजनिक स्नानागार), और *कटरा* (बाज़ार) इत्यादि होते थे। चूंकि इस तरह के भवनों का निर्माण सार्वजनिक एवं नागरिक उद्देश्यों के लिए किया जाता था इसलिए सामूहिक रूप से हम उनको सार्वजनिक भवनों एवं सार्वजनिक कार्यों की श्रेणी के अंतर्गत रख सकते हैं। बिना किसी धार्मिक और जातीय भेदभाव के ये सामान्य जनता के प्रयोग के लिए उपलब्ध थे।

सराय इन सार्वजनिक भवनों में सबसे विशिष्ट थीं। इसका प्रचलन भारत में तेरहवीं शताब्दी में तुर्कों द्वारा किया गया। *सराय* का ज़िक्र सर्वप्रथम बलबन के समय (1266) में मिलता है। बाद के शासकों में मुहम्मद तुगलक और फ़िरोज तुगलक ने दिल्ली के आसपास और सल्तनत के स्थल-मार्गों पर अनेक *सरायें* बनवाईं। इन सरायों की मुख्य विशेषताएंः

- वर्गाकार और आयताकार विन्यास जो पक्की दीवारों से चारों ओर से घिरे होते थे जिसमें प्रवेश के लिए एक अथवा कभी-कभी दो दरवाजे होते थे,
- कतार में बने कमरे जिनके आगे मेहरबानुमा जगह होती थी। गोदाम अहाते के कोने में था।
- अहाते में एक छोटी मस्जिद और एक या दो कुएं होते थे (यह विशेषताएं शेरशाह के समय की *सराय*-योजना में देखी जा सकती हैं)।

पुल सार्वजनिक भवनों की अन्य महत्वपूर्ण श्रेणी थी। लेकिन छोटी और मध्य परिमाण की नदियों पर ही पक्के पुल बनाए गए थे। बड़ी नदियों, जैसे, गंगा और यमुना पर नौकाओं से बने पुल थे। हमारा सौभाग्य है कि उस समय के बने ऐसे दो पक्के पुल आज भी अस्तित्व में हैं। एक गम्भीरी नदी पर चित्तौड़गढ़ में है तथा दूसरा, साहिबी (यमुना नदी की एक शाखा) नदी पर वज़ीराबाद, दिल्ली में स्थित है।

सल्तनत काल के विभिन्न प्रकार के छोटे और बड़े भवनों में *सराय* एवं पुल सर्वाधिक प्रचलित हैं। बांध एवं सीढ़ीदार कुएं (step-wells) भी सल्तनतकालीन वास्तुकला का एक भाग है। उदाहरण के लिए, इल्तुतमिश द्वारा निर्मित गंधक की बावली है जो महरौली, दिल्ली में स्थित एक सीढ़ीदार कुआं है।

हिंद-इस्लामिक वास्तुकला शैली के अतिरिक्त, विभिन्न राज्यों में वास्तुकला की क्षेत्रीय शैलियों का विकास स्थानीय आवश्यकतानुसार दिल्ली सल्तनत से संबंध विच्छेद करने के बाद हुआ। यह शैली दिल्ली की हिंद इस्लामिक शैली से न केवल भिन्न थी, बल्कि उसकी अपनी मौलिक विशेषताएं थीं। वे क्षेत्र जहां शिल्पकला की शक्तिशाली परंपरा मौजूद थी वहां इस्लामी वास्तुकला की क्षेत्रीय शैलियों में अत्यधिक आकर्षक भवनों का निर्माण हुआ। दूसरी ओर जहां इतनी शक्तिशाली परंपरा विकसित नहीं थीं; वहां क्षेत्रीय भवन निर्माण कला अपेक्षाकृत निम्नकोटि की है। कई जगहों पर नए प्रकार की वास्तुकला का विकास हुआ, जो स्थानीय तथा साम्राज्यवादी परंपराओं से भिन्न है।

बोध प्रश्न-2

1) निम्नलिखित कथनों पर सही (✓) या गलत (×) का निशान लगाइएः

   क) कुव्वत-उल इस्लाम मस्जिद के पर्दे (screen) में बनी मेहराब कदलिकाकृत शैली में हैं। ( )

   ख) इल्तुतमिश के मकबरे के गुम्बद को मकबरे के कक्ष के कोने से आड़ी धरनियों द्वारा बनाया गया है। ( )

   ग) बलबन के मकबरे का प्रवेश द्वार कदलिकाकृत शैली में है। ( )

2) खलजी वास्तुकला की तीन प्रमुख विशेषताएं लिखिए।

....

....

....

....

3) प्रत्येक का उत्तर दो पंक्तियों में दें।

क) तुगलक काल में घोड़े की नालनुमा नुकीली मेहराब को क्यों समाप्त कर दिया गया?

....

....

ख) तुगलक काल की दीवारें और बुर्ज अपनी पूर्ववर्ती संरचनाओं से किस तरह भिन्न हैं?

....

....

ग) तुगलक कालीन भवनों की भवन निर्माण सामग्री में आपने किस तरह का अंतर पाया?

....

....

4) सैय्यद और लोदी मकबरों की मुख्य विशेषताओं पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

5) सार्वजनिक भवनों को परिभाषित कीजिए एवं दिल्ली सल्तनत के कुछ महत्वपूर्ण भवनों को सूचीबद्ध कीजिए।

....

....

....

....

17.3 मुगलों के अधीन वास्तुकला

16वीं से 18वीं शताब्दियों के दौरान स्थापत्य का इतिहास मुख्य रूप से वस्तुतः मुगल सम्राटों के भवन निर्माण संबंधी क्रियाकलापों से संबंधित है। इस बीच केवल पन्द्रह वर्षों का शासनांतराल आया। इस दौरान दिल्ली में सूर शासकों ने शासन किया।

17.3.1 मुगल स्थापत्य की शुरुआत

यह सत्य है कि स्थापत्य संबंधी मुगल शैली का ठोस स्वरूप अकबर के शासन के दौरान सामाने आया, परन्तु अकबर से पहले के दोनों मुगल सम्राट बाबर और हुमायूं ने मुगल स्थापत्य के मूलभूल आधारों की नींव रख दी थी।

बाबर की इमारतें

बाबर ने मात्र पांच वर्षों तक शासन किया और उसका अधिकांश समय अपने नवजात मुगल राज्य को सम्भालने और उसके लिए युद्ध करने में बीत गया। इसके बावजूद वह गैर-धार्मिक भवनों के निर्माण में खूब रुचि लेता था। दुर्भाग्य से उसके द्वारा बनवाई इमारतों में से काफी कुछ नष्ट हो चुकी हैं। 1526 में बाबर ने पानीपत और सम्भल में दो मस्जिदें बनवाई थीं। अब उनका ढांचा मात्र बचा है। लेकिन ये दोनों ढांचे सामान्य स्थल हैं और इनमें कोई स्थापत्यगत विशेषता नहीं है।

बाबर ने अपने गैर-धार्मिक कार्यों के तहत मुख्य रूप से ईरानी शैली पर आधारित बगीचे लगवाए और मंडप बनवाए। एक चित्र में उसे धौलपुर के बगीचे की रूपरेखा का निरीक्षण करते हुए दिखाया गया है। आगरा स्थित रामबाग और ज़हरा बाग नामक दो बगीचे भी उसी के बनवाये हुए कहे जाते हैं। परंतु आज इन बगीचों की रूपरेखा देखने से लगता है कि इसमें कई प्रकार के परिवर्तन किए गए है। आज बाबर द्वारा निर्मित एक भी मंडप का अस्तित्व शेष नहीं है।

हुमायूँ की इमारतें

बाबर की तरह हुमायूँ के शासनकाल में निर्मित भवन भी आज कम ही बच पाए हैं। इस समय भारत में मुगल शासन अस्थिर था और ऐसी स्थिति में स्थापत्य संबंधी किसी महान् कार्य की आशा नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त दिल्ली में 15 सालों तक सूर शासन स्थापित रहा और इस दौरान हुमायूँ को देश के बाहर ईरान जाकर रहना पड़ा। इसके बावजूद उसके प्रथम चरण के शासन के दौरान बनाई गई इमारतों में से दो मस्जिदों का अस्तित्व बचा हुआ है। एक जीर्ण-शीर्ण अवस्था में आगरे में स्थित है। दूसरी, फतेहाबाद (हिसार) में है। ये इमारतें भी बाबर द्वारा बनाई गई मस्जिदों के समान स्थापत्यगत दृष्टि से कोई खासियत नहीं रखती हैं।

हुमायूँ 1555 में दिल्ली लौटा, परन्तु उसके बाद वह काफी कम दिन जिंदा रह पाया। वस्तुतः इस काल के दौरान कोई महत्वपूर्ण भवन निर्मित नहीं हुआ। हां, हुमायूँ के मकबरे का उल्लेख किया जा सकता है। देश से बाहर अपने ईरान प्रवास के दौरान उस पर पड़े ईरानी प्रभाव की झलक इस भवन में देखी जा सकती है। वस्तुतः यह इमारत मुगल स्थापत्य शैली के विकास की एक महत्वपूर्ण पहचान है। 1564 में, हुमायूँ की मृत्यु के बाद, उसकी पत्नी हमीदा बानो बेगम की देखरेख में इसका निर्माण आरंभ हुआ। इस भवन के स्थापत्य शिल्पी मिराक मिर्ज़ा ग़ियास थे। वे ईरान के रहने वाले थे। वे अपने साथ कुशल ईरानी कारीगर दिल्ली में लाए थे। भवन निर्माण में उनकी तकनीकी और योग्यता का पूर्णतः इस्तेमाल किया गया। इस प्रकार यह मकबरा भारत में ईरानी अवधारणा के आत्मसातीकरण का प्रतिनिधित्व करता है। सही अर्थों में हुमायूँ का मकबरा अकबर के शासनकाल की इमारत है। परन्तु अपनी खासियतों के कारण इसे उस काल से अलग माना जाता है।

हुमायूं के मकबरे में पहली बार बागानों का उपयोग किया गया था और इसे लाल बलुए पत्थर से बनाए तोरणयुक्त चबूतरे पर स्थापित किया गया था। यह आकार में अष्टकोणीय है और एक ऊंचे गुंबद से आच्छादित है जो वस्तुतः दोहरा गुंबद है। इसमें दो आवरण हैं और दोनों आवरणों के बीच में जगह छोड़ दी गई है। आंतरिक आवरण अंदरूनी हिस्से की छत का काम करता है और बाहरी आवरण इमारत के अनुपात में ऊपर की ओर शल्क कंद के समान उभरा हुआ है। मकबरे के हरेक तरफ मध्य में एक द्वार मंडप है, जिसके साथ नुकीला मेहराब लगा हुआ है। यह मुख्य कक्ष में जाने का रास्ता है। इस भवन के अंदर कई कक्ष बने हुए हैं। इनमें सबसे बड़ा कक्ष मध्य में है जिसमें सम्राट की कब्र है। प्रत्येक कोण पर बने छोटे कक्ष परिवार के अन्य सदस्यों की कब्रों के लिए बनाए गए हैं। प्रत्येक कक्ष अष्टकोणीय है और ये तिरछे रास्तों से जुड़े हुए हैं।

दोहरा गुम्बद

दोहरे गुम्बद में दो आवरण होते हैं। अंदर का आवरण भवन की अंदरूनी छत का काम करता है। ऊपरी आवरण भवन को महिमा-मंडित बनाता है। दोहरे गुम्बद के शिल्प के कारण अंदरूनी छत को नीचे रखने में सुविधा हुई ताकि बेहतर संतुलन बन सके। बाहर के उभार और बनावट को बिना छेड़े हुए ऐसा किया जा सका। भारत आने से पहले दोहरे गुम्बद की तकनीक कुछ समय से पश्चिम एशिया में प्रचलित थी।

17.3.2 शासनांतरालः सूर स्थापत्य

1540 में शेरशाह सूर ने भारत में मुगल शासन को विच्छिन्न कर दिया। अगले पन्द्रह वर्षों तक इस साम्राज्य पर सूर शासकों का आधिपत्य रहा, जिन्होंने स्थापत्य की दिशा में कई महत्वपूर्ण कार्य किए। उनके द्वारा बनाई गई इमारतों ने मुगलों के भवन निर्माण के लिए पृष्ठभूमि का काम किया।

सूर शासकों ने विभिन्न परिस्थितियों में भवनों का निर्माण कराया और उनके द्वारा बनाई गई इमारतें दो अलग-अलग क्षेत्रों में स्थित हैं। इन्हें दो भिन्न कालों में विभाजित किया जा सकता

है। शेरशाह कालीन प्रथम चरण 1530-1540 के बीच का है, जिसका केन्द्र सासाराम (बिहार) में था। हुमायूँ से साम्राज्य की बागडोर छीनने के बाद शेरशाह के शासनकाल का दूसरा चरण (1540-1545) आरंभ होता है। उसके संरक्षण में कई स्थापत्य प्रयोग किए गए जिनका बाद में मुगल शैली के रूप में परिपक्व रूप उभरा।

प्रथम चरण में कई मकबरों का निर्माण हुआ। इनमें से तीन शासकीय परिवार के सदस्यों के मकबरे हैं और एक इन मकबरों के शिल्पी अलीवल खां का है। ये टाइल वाले भवन शेरशाह की महत्वकांक्षा को परिलक्षित करते हैं। वह दिल्ली में पाये जाने वाले किसी भी स्मारक से बड़ा उदाहरण पेश करना चाहता था। अपनी इस योजना के तहत 1525 में उसने अपने पिता हसन खां के मकबरे का निर्माण करवाया। परन्तु यह लोदी शैली की परम्परागत शैली का ही अनुसरण था। इस प्रकार की महत्वपूर्ण इमारत सासाराम स्थित शेरशाह का मकबरा था। स्थापत्य की दृष्टि से यह खूबसूरत इमारत है। इसमें शिल्पकार ने पहले की अपेक्षा बड़ा भवन निर्मित किया और उसे सुंदर तालाब के बीच में स्थित कर दिया। भवन में जाने के लिए बीच में मार्ग-सेतु बनाया गया। इसके अलावा इसमें कई मंजिलें बनाई गईं और पांच अलग चरणों में इसे सुंदर पिरामिडीय संरचना का स्वरूप प्रदान किया गया। इस स्मारक का निर्माण चुनार के बेहतरीन बलुए पत्थर से किया गया था।

शेरशाह का मकबरा छत पर स्थित एक चबूतरे पर बना हुआ है जिसके चारों ओर सीढ़ियां बनी हुई हैं और वहां तक पंहुचने के लिए तालाब पर पुल बने हुए हैं। मकबरे के निचले चबूतरे की मुख्य धुरी की बनावट में कुछ कमी है। परन्तु निचले चबूतरे के ऊपर बनी संरचना की धुरी को थोड़ा झुकाकर इस कमी को दूर कर दिया गया है। मुख्य भवन में एक अष्टकोणीय कक्ष है। यह तोरण पथ (arcade) से घिरा हुआ है जो गलियारे का काम करते हैं। यह एक विस्तृत निचले गुम्बद से आच्छादित है। प्रत्येक चबूतरे के कोने में गुम्बदनुमा छतरियां हैं। क्रमशः बड़े से छोटे स्तरों का उपयोग और चतुर्भुज से अष्टकोण और फिर गोलाकार पद्धति पर आना भारतीय वास्तुकारों की निपुणता को प्रदर्शित करती है।

विकास का दूसरा चरण दिल्ली में शुरू हुआ। शेरशाह ने दिल्ली के छठे शहर के रूप में पुराना किला का निर्माण करवाया। आज इसके केवल दो द्वार ही बच पाए हैं। हालांकि इसमें महत्वपूर्ण भवन 1542 में पुराना किला के अंदर निर्मित किला-ए कोहना मस्जिद है। स्थापत्यगत योजना के तहत इस मस्जिद के उपासना गृह का अग्रभाग पांच झुके हुए खांचों में विभक्त है। मध्यकक्ष दूसरों की अपेक्षा बड़ा है और सभी में खुले झिर्रीनुमा मेहराब द्वार बने हुए हैं। अग्रभाग में काले और सफदे संगमरमर तथा लाल बलुए पत्थर का खूबसूरती से उपयोग किया गया है। केन्द्रीय मेहराब के बगल में संकीर्ण, लंबी धारियों से युक्त भित्ति स्तम्भ बने हुए हैं। मस्जिद के पिछले हिस्से में पांच घुमावदार सीढ़ियां हैं जिनमें बहुत सी खिड़कियां और झरोखे बने हुए हैं।

इस भवन की उल्लेखनीय विशेषता मेहराबों का आकार है। गोलाई में ऊपर को बढ़ते हुए इनमें हल्का झुकाव या समतलपन दृष्टिगोचर होता है यह मुगलों के चहु-केंद्रित 'ट्यूडर' मेहराब के विकास की पूर्वपीढ़िका है।

17.3.3 अकबर कालीन स्थापत्य

अकबर के शासनकाल को मुगल स्थापत्य का निर्माण काल माना जा सकता है। इस दौरान हिंद-इस्लामी स्थापत्य की मिली-जुली स्थापत्य कला का विकास हुआ।

शैलीगत रूप

अकबर के शासनकाल में स्थापत्य के क्षेत्र में देशी तकनीकों को बढ़ावा मिला और अन्य देशों के अनुभवों का भी उपयोग किया गया। इस प्रकार अकबर के संरक्षण में पनपने वाली स्थापत्य शैली की निम्नलिखित विशेषताएं उल्लिखित की जा सकती हैं:

क) भवन निर्माण में मुख्य रूप से लाल बलुए पत्थर का उपयोग हुआ:

ख) शहतीरों का अधिकतम उपयोग;

ग) मेहराबों का संरचनात्मक स्वरूप की अपेक्षा अलंकरण के लिए प्रयोग;

घ) गुम्बद ''लोदी' शैली में बनते रहे, कभी-कभी इसे खोखला बनाया जाता था, परन्तु तकनीकी तौर पर यह सही अर्थों में दोहरा गुम्बद नहीं होता था;

ड.) खम्भे का अग्रभाग बहुफलक युक्त होता था और इन खम्भों के शीर्ष पर ब्रैकेट या ताक बने होते थे; और

च) अंदरूनी हिस्से में अलंकरण के तौर पर स्पष्ट रूप से उकेरी गई नक्काशी तथा पच्चीकारी की जाती थी और उन्हें चमकीले रंगों से रंगा जाता था।

भवन परियोजनाएं

अकबर की भवन परियोजनाओं को दो प्रमुख समूहों में बांटा जा सकता है। दोनों अलग-अलग चरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पहले समूह में मुख्य रूप से आगरा, इलाहाबाद और लाहौर में बने किले और कुछ महलों के भवन शामिल हैं। दूसरा समूह मुख्य रूप से फतेहपुर में उसकी नई राजधानी के निर्माण से संबद्ध है।

क) **प्रथम चरण**

अकबर के शासनकाल की आरंभिक भवन परियोजनाओं में आगरा के किले का निर्माण उल्लेखनीय है। इसका निर्माण एक किले रूपी महल के रूप में हुआ था। इसकी विशालकाय दीवारें और परकोटे किसी महान् सत्ता और शक्ति की याद दिलाते हैं। किले के भीतर, अकबर ने गुजरात और बंगाल शैली में कई इमारतें बनवाई थीं। हालांकि जहांगीरी महल को छोड़कर शाहजहां ने अन्य सभी संरचनाओं को तुड़वाकर फिर से निर्मित करवाया था। आज किले का दिल्ली दरवाजा और जहांगीरी महल ही अकबर के काल के भवनों का एकमात्र प्रतिनिधि है।

आगरे के किले का दिल्ली दरवाजा संभवतः अकबर के आरंभिक स्थापत्यगत प्रयास का नमूना है। यह किले का मुख्य प्रवेश द्वार है। इस दरवाजे के स्थापत्य में नयापन है, जो भारत में भवन निर्माण कला के नए युग के आरंभ की सूचना देता है। इस दरवाजे की योजना सरल है। इसका विवरण इस प्रकार हैः

- सामने की ओर मध्य में मेहराब पथ था और उसके दोनों ओर झुकी हुई अष्टकोणीय दीवारें थीं;
- पीछे की ओर तोरणयुक्त छत थी और जिसमें मंडप और कंगूरे बने हुए थे; और
- इसमें लाल बलुए पत्थर पर सफेद संगमरमर से अलंकरण किया गया था।

जहांगीरी महल का निर्माण अकबर ने करवाया था और यह लाल बलुए पत्थर से बने भवन का उत्कृष्ट नमूना है। अकबर द्वारा किले के भीतर निजी और घरेलू कार्य के लिए बनाए गए भवनों में केवल यही बचा हुआ है। यह हिंदू और इस्लामी भवन निर्माण पद्धति के मिले-जुले रूप का सुंदर नमूना है। इसमें विभिन्न कक्ष बने हुए हैं। पूर्व दिशा के अग्रभाग में प्रवेश द्वार है जो गुम्बदनुमा बड़े कक्ष की ओर जाता है, जिसकी अंदरूनी छत पर काफी नक्काशी की गई है। इस कक्ष को पार करने के बाद एक मध्यवर्ती खुला आंगन मिलता है। इस आंगन की उत्तर दिशा में कई खंभों से बना एक कक्ष है जिसकी छत को खंभों, कड़ियों और घुमावदार ताकों से सहारा दिया गया है। दक्षिण दिशा में भी इसी प्रकार का एक कक्ष है। हालांकि पूर्व दिशा में यह सामंजस्य कायम नहीं रखा जा सका है। इस ओर कई कक्ष हैं जो यमुना नदी की ओर बने एक गलियारे में खुलते हैं। पूरे भवन के निर्माण में मुख्य रूप से लाल पतथर, कड़ी और ब्रैकेट या ताक का इस्तेमाल किया गया है जो इसकी प्रमुख संरचनागत विशेषता को दर्शाती हैं।

लाहौर और इलाहाबाद के किले में भी यह विशेषता देखने को मिलती है। केवल अजमेर का किला दूसरे ढंग से बना हुआ है। यह क्षेत्र साम्राज्य के सीमांत प्रदेश के निकट था अतः किले की दीवारों की मोटाई दोगुनी कर दी गई थी।

ख) **दूसरा चरण**

अकबर की स्थापत्यगत योजना के दूसरे चरण की शुरुआत सीकरी में साम्राज्य की नई राजधानी के निर्माण के साथ होती है। यह आगरा से 40 किलोमीटर पश्चिम में स्थित है। नई राजधानी

का नाम फतेहपुर रखा गया। यह भारत के स्मारकों में प्रमुख स्थान रखता है। फतेहपुर सीकरी एक शहर है। इसका निर्माण इस तरीके से किया गया है कि सहन, दीवान-ए आम और जामा मस्जिद जैसे सार्वजनिक स्थल निजी महल के ही अंग बन गए हैं। इस शहर का निर्माण काफी कम समय (1571-1585) में किया गया और इसके लिए कोई वृहद योजना नहीं बनाई गई थी। भवन एक दूसरे के आसपास बने थे और एक दूसरे से जुड़े हुए थे। इस परिसर के निर्माण में असममिति (asymmetry) का जानबूझकर प्रयोग किया गया है। सभी भवनों में बेहतरीन लाल बलुए पत्थर और परम्परागत शहतीर निर्माण पद्धति का प्रयोग किया गया है। खंभों, कड़ियों, ताकों, टाइलों और स्तंभों का निर्माण स्थानीय पत्थरों से किया गया है, उन्हें बिना गारे से जोड़ा गया है।

फतेहपुर सीकरी के भवनों को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है – धार्मिक और गैर-धार्मिक। धार्मिक भवनों में प्रमुख हैः क) जामा मस्जिद, ख) बुलंद दरवाजा, ग) शेख सलीम चिश्ती की मज़ार। गैर-धार्मिक भवन कई प्रकार के हैं और इनकी संख्या भी ज्यादा है। इन्हें इस प्रकार विभक्त किया जा सकता हैः क) महल, ख) प्रशासनिक भवन, ग) अन्य प्रकार के भवन। यह गौर करने की बात है कि आमतौर पर धार्मिक भवनों का निर्माण मेहराबदार/चापाकार (arcuate) शैली में हुआ जबकि गैर-धार्मिक भवनों में शहतीर (trabeate) पद्धति की प्रमुखता है।

जामा मस्जिद की योजना बिल्कुल एक मस्जिद के अनुरूप है – मध्य में एक बरामदा, तीन तरफ से तोरण पथ और ऊपर की ओर गुम्बदनुमा संरचना। उपासना गृह की पश्चिमी तरफ तीन अलग-अलग साधनालय या एकांत स्थल बने हुए हैं। प्रत्येक में एक गुम्बद और तोरण पथ है। मस्जिद का आम प्रवेश द्वार पूर्व की ओर है। यह प्रवेश द्वार आकार में काफी बड़ा और अर्द्ध-षट्कोणीय ड्योढ़ी के समान है।

1596 में अकबर ने दक्षिणी प्रवेश द्वार के स्थान पर बुलंद दरवाजा नामक विजय द्वार निर्मित किया। यह लाल और पीले बलुए पत्थर से बनाया गया है और मेहराबों की रूपरेखा निर्मित करने में सफेद संगमरमर का भी उपयोग किया गया है। बाहर की ओर से सीढ़ियों की ऊंची लंबी कतार के कारण यह और भी ज्यादा ऊंचा और भव्य दिखता है। प्रवेश द्वार में एक विशाल मध्यवर्ती मेहराब है जिससे एक करीने से गुम्बदनुमा छतरियां जुड़ी हुई हैं। 1573 में अकबर के गुजरात अभियान की सफलता के उपलक्ष्य में बुलंद दरवाजा का निर्माण हुआ था।

उत्तरी-पश्चिमी कोने में स्थित जामा मस्जिद के बरामदे में सलीम चिश्ती की मजार है। यह स्थापत्य कला का एक सुदर नमूना है और भारत में संगमरमर के कलात्मक उपयोग का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यह 1581 में बनकर तैयार हो गया था और मूलतः इसमें संगमरमर का उपयोग अंशतः ही हुआ था। छज्जे को सहारा देता घुमावदार ताक और नक्काशी किए हुए जाली के पर्दे इस मस्जिद की उल्लेखनीय विशेषताएं हैं।

फतेहपुर सीकरी महल परिसर में अनेक कक्ष और हिस्से हैं। इनमें सबसे विशाल जोधाबाई महल है। यह भव्य और आडंबरहीन है। बाहर की दीवार समतल है। मुख्य भवन अंदर की ओर है और सभी एक आंगन में खुलते हैं। उत्तर की ओर तोरणयुक्त गलियारा और बालकनी है। ऊपरी मंजिल के उत्तरी और दक्षिणी हिस्से में कमरे हैं। इनकी छतें फांकदार (ribbed) हैं, जिसे मुल्तान से लाए गए चमकीले बेहतरीन नीले पत्थरों से पाटा गया है।

दीवान-ए खास के दक्षिण-पूर्व में पांच मंजिली इमारत खड़ी है जिसे पंच महल के नाम से जाना जाता है। यह इस महल परिसर का अनूठा भवन है। इसमें जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं मंजिलों का आकार छोटा होता जाता है। सबसे ऊपर एक गुम्बदनुमा छतरी है। भवन के कुछ हिस्सों में लाल बलुए पत्थर की झिर्रियां लगवाई गई हैं। परन्तु आज इनमें से कोई सही सलामत नहीं है। एक रुचिकर तथ्य यह है कि जिन खंभों पर ये पांच मंजिलें खड़ी की गई हैं, वे सभी खंभे आकार प्रकार में भिन्न हैं।

प्रशासनिक भवनों में, निस्संदेह, *दीवान-ए खास* सबसे अलग और खास है। इस भवन की योजना आयताकार रूप में की गई है और बाहर की ओर से इसमें दो मंज़िलें हैं। इसमें एक सपाट छत है जिसके प्रत्येक कोने के खंभों पर गुम्बदनुमा छतरी लगी हुई है। बीच में एक खूबसूरत नक्काशी किया हुआ स्तम्भ है, जिसके विशाल ताक के ऊपर एक वृत्ताकार पत्थर का चबूतरा

बना हुआ है। इस चबूतरे से चार रास्ते (railed 'bridges') निकलते हैं। ये समकोणीय रूप से अवस्थित हैं और कक्ष के ऊपरी हिस्से के चारों ओर की वीथिकाओं को जोड़ते हैं। इस संरचना का मुख्य स्थापत्यगत आकर्षण केन्द्रीय स्तम्भ है। इसकी धुरी कई प्रकार से निर्मित है और शीर्ष पर इसकी कई शाखाएं हैं, जो कई घुमावदार और दोलायमान ताकों (pendulous brackets) से जुड़ी हैं। इनके सहारे केन्द्रीय चबूतरा टिका हुआ है।

इस श्रेणी का दूसरा महत्वपूर्ण भवन *दीवान-ए आम* है। यह एक बड़ा आयताकार बरामदा है जो चारों ओर से स्तम्भों (colonnades) से घिरा हुआ है। सम्राट का चबूतरा पश्चिमी किनारे पर है। यह ऊपरी उठी हुई संरचना है जिस पर बैठे हुए व्यक्ति को कोई भी देख सकता है। ऊपर पत्थर की छत है और वह पांच ओर से समान रूप से खुला हुआ है। चबूतरा तीन भागों में विभक्त है, मध्यवर्ती भाग, शायद सम्राट के बैठने की जगह होगी, जो कि दोनों किनारों से हटकर है और इसमें बेहतरीन चमकीले पत्थर ज्यामितीय आकार में लगाए गए हैं।

पूरे नगर परिसर में भिन्न-भिन्न प्रकार की इमारते फैली हुई हैं:

क) दो *कारवां सरायें*, एक आगरा दरवाजे के तुरंत बाद दाहिनी ओर स्थित है; और दूसरी, जो पहले वाली से बड़ी है, हाथी पोल के बाहर बायीं तरफ स्थित है;

ख) *कारखाना* भवन *दीवान-ए आम* और *नौबत खाना* के बीच में अवस्थित है जिसमें कई ईंट के बने गुम्बद हैं, जिनमें विकिरण की क्षमता है। वे क्षैतिज कम हैं; और

ग) *कारवां सराय* के सामने और हाथी पोल के निकट जल आपूर्ति की व्यवस्था की गई है। इसमें एक गहरी बावली (सीढ़ीदार कुएं) है जिसके दानों ओर दो कोष्ठ हैं जिसके जरिए सारे शहर को जल की आपूर्ति की जाती थी।

बोध प्रश्न-3

1) निम्नलिखित का मिलान कीजिए:

i) राम बाग और ज़हरा बाग	क) हमीदा बानो बेगम
ii) हुमायूँ का मकबरा	ख) शेरशाह का मकबरा
iii) सासाराम	ग) शेरशाह
iv) पुराना किला	घ) बाबर

2) साठ शब्दों में हुमायूँ के मकबरे की विशेषताओं पर विचार कीजिए।

....

....

....

....

3) निम्नलिखित वक्तव्यों के सामने (✓) या गलत (×) का निशान लगाइए।

क) अकबर ने अपने अधिकांश भवनों में सफेद संगमरमर का उपयोग किया। ( )

ख) अकबर के भवनों में कभी भी दोहरे गुम्बद का इस्तेमाल नहीं किया गया। ( )

ग) अकबर की स्थापत्य शैली में धनुषाकार/चापाकार (arcuate) और शहतीर (trabeate) शैली का सामंजस्य है। ( )

4) फतेहपुर सीकरी के महत्वपूर्ण गैर-धार्मिक भवनों पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

5) फतेहपुर सीकरी में बने धार्मिक भवनों का उल्लेख करते हुए उन पर संक्षिप्त में लिखिए।

....

....

....

....

17.3.4 जहांगीर और शाहजहां कालीन स्थापत्य

1605 में अकबर की मृत्यु के बाद भी उसके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में एक खास मुगल स्थापत्य शैली का विकास होता रहा। अब साम्राज्य की नींव पक्की हो चुकी थी और राजकोष में अपार धन इकट्ठा हो गया था। जहांगीर और शाहजहां ने इसका जमकर फायदा उठाया और कला के विकास की ओर ध्यान दिया।

प्रमुख विशेषताएं

भवन निर्माण कला के क्षेत्र में जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल संगमरमर के प्रयोग के काल हैं। लाल बलुए पत्थर का स्थान संगमरमर ने ले लिया और इसका बेहतरीन प्रयोग होने लगा। इस कारण कुछ शैलीगत परिवर्तन भी आए जो इस प्रकार हैं:

क) मेहराब को नया रूप दिया गया। इसमें घुमावदार पत्रण (foliated curves) का उपयोग होने लगा जिसमें आमतौर पर नौ नुकीले सिरे होते थे,

ख) दांतेदार (engrailed) मेहराब के संगमरमर के तोरण पथ इस काल की आम विशेषता हो गई,

ग) गुम्बद कंदीय (bulbous) स्वरूप ग्रहण करने लगा और इसमें ऊपर की तरफ एक प्रकार का सकरापन भी आने लगा। दोहरे गुम्बद का चलन आम हो गया,

घ) जहांगीर के शासनकाल के उत्तरार्द्ध से पच्चीकारी का एक नया तरीका सामने आया जिसे *पित्राड़्यूरा* के नाम से जाना जाता है। इस पद्धति के तहत लाजवर्द (lapis lazuli), सुलेमानी (onyx), सूर्यकांत (jasper), पुखराज (topaz) और कार्नेलियन जैसे पत्थरों को संगमरमर में बड़ी नफासत के साथ फूल-पत्तियों के रूप में जड़ा जाता था।

प्रमुख इमारतें

अकबर का मकबरा इस युग का पहला प्रमुख और उल्लेखनीय भवन है। यह आगरा से आठ किलोमीटर दूर दिल्ली मार्ग पर सिकन्दरा में अवस्थित है। अकबर ने इसकी रूपरेखा खुद बनाई थी और इसका निर्माण कार्य अपने जीवन काल में ही आरंभ करवा दिया था परन्तु उसकी मृत्यु के समय यह कार्य अधूरा था। इसके बाद जहांगीर ने इसकी मूलरेखा में परिवर्तन करके इसे नए रूप में निर्मित करवाया और इस भवन को पूरा किया। आज यह पूरा परिसर जिस रूप में खड़ा है वह अकबर और जहांगीर की स्थापत्यगत योजनाओं का असाधारण सम्मिश्रण है।

इस परिसर के बीच में मकबरा स्थित है जो चारों ओर से बागान से घिरा हुआ है। प्रत्येक ओर की चाहरदीवारी के मध्यभाग में प्रवेश द्वार बने हुए हैं।

मध्य में स्थित मकबरे वाला भवन चौकोर आकार का है और इसमें तीन मंजिलें हैं। पहली मंजिल वस्तुतः एक छतयुक्त चबूतरा है जो तहखाने का काम करता है। इस चबूतरे के भीतर शवागार कक्ष के चारों ओर शव कक्ष बने हुए हैं और दक्षिण दिशा में पतला ढंलवा गलियारा है जो कब्र तक जाता है। बीच वाले हिस्सों में लाल बलुए पत्थर से बने तलों के तीन स्तर हैं, जिनमें पूरी तरह शहतीरों का उपयोग किया गया है। ऊपरी द्वितीय मंजिल पर लाल बलुए पत्थर के स्थान पर सफेद संगमरमर का उपयोग किया गया है। इसमें एक खुला सभागार है जो चारों ओर से जालियों से युक्त स्तंभावलियों से घिरा हुआ है। मकबरा चहारदीवारी के प्रवेश द्वार से गुफाओं और सेतु पंथों से जुड़ा हुआ था। परन्तु इसमें केवल दक्षिण की ओर से ही प्रवेश किया जा सकता था बाकी प्रवेश द्वार दिखावटी थे जिनका निर्माण एकरूपता के लिए किया गया था।

दक्षिणी प्रवेश द्वार दो मंजिला था जिसके प्रत्येक कोने पर सफेद संगमरमर की गोल मीनारें खड़ी थीं। सम्पूर्ण प्रवेश द्वार का ढांचा रंगीन पलस्तर के रंग के पत्थर से अलंकृत हैं और इसमें संगमरमर जड़ा गया था। इसमें खास बात यह है कि इस अलंकरण में परम्परागत फूल-पत्ती के बेलबूटों, *अरबेस्क* और आयतों के सुलेखन के अतिरिक्त, *गज* (हाथी), हंस, *पद्म* (कमल), स्वास्तिक और चक्र का भी प्रयोग किया गया था।

सिकन्दरा स्थित अकबर के मकबरे का स्थापत्यगत महत्व इस बात से सिद्ध होता है कि इसके बाद बनने वाले अनेक मकबरों, में इस भवन की छाप दिखाई पड़ती है। लाहौर के निकट शाहदरा में स्थित जहांगीर का मकबरा और आगरा स्थित नूरजहां के पिता मिर्जा ग़ियास बेग का मकबरा इसके उत्तम उदाहरण है।

अपने पिता मिर्जा ग़ियास बेग की कब्र पर नूरजहां ने 1622-28 में इतमादउद्दौला का मकबरा निर्मित किया। यह मकबरा अकबर के काल के बाद के स्थापत्यगत परिवर्तन का सूचक है। जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल के स्थापत्य और अकबर के स्थापत्य में एक खास अंतर सूक्ष्मता और भव्यता का है। इस ढांचे में इसी सूक्ष्मता की अवधारणा की झलक मिलती है।

मकबरा चौकोर है जो थोड़े से उठे हुए चबूतरे पर बना हुआ है। प्रत्येक कोने पर चार गुम्बद युक्त अष्टकोणीय मीनारें हैं। केन्द्रीय कक्ष के चारों बरामदा है जो खूबसूरत संगमरमर की जाली से घिरा हुआ है और इस पर मोज़ेक और *पित्राड़्यूरा* किया हुआ है। केन्द्रीय कक्ष में इतमादउद्दौला और उनकी पत्नी की कब्र है, जो पीले संगमरमर की बनी है। बगल के कमरे रंगीन फूल-पत्तियों से अंलकृत हैं। सफेद संगमरमर का मकबरा चारों ओर से बागों और दीवारों से घिरा बड़ा खूबसूरत दीखता है। इसके चारों ओर लाल बलुए पत्थर के बने चार प्रवेश द्वार हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि जहांगीर चित्रकला का बहुत बड़ा प्रेमी और संरक्षक था। उसे जानवरों, पेड़-पौधों, फूलों आदि से अगाध स्नेह था। यह उसके काल के चित्रों से भी प्रमाणित होता है। इसीलिए उसने भवनों की अपेक्षा बागानों और फुलवारियों के निर्माण में अपेक्षाकृत अधिक रुचि दिखाई। कश्मीर में स्थित शालीमार बाग और निशात बाग जैसे मुगल बागान जहांगीर की इसी रुचि के परिचायक हैं।

जहांगीर के विपरीत उसका पुत्र और उत्तराधिकारी शाहजहां एक महान् भवन निर्माता था। उसके शासनकाल के दौरान भवन निर्माण में संगमरमर का बड़े पैमाने पर सर्वोत्कृष्ट कलात्मक उपयोग हुआ। शाहजहां ने निम्नलिखित प्रकार के भवन बनवाए:

क) किले रूपी महल, मसलन दिल्ली का लाल किला;

ख) मस्जिदें, उदाहरणस्वरूप, आगरे के किले में स्थित मोती मस्जिद और दिल्ली की जामा मस्जिद; और

ग) बाग से घिरे मकबरे, उदाहरणस्वरूप, ताजमहल।

यहां हम शाहजहां के शासनकाल के दौरान निर्मित अधिक महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि भवनों लाल किला और ताजमहल की चर्चा करेंगे।

लाल किला आयताकार है और इसकी उत्तरी दीवार यमुना नदी के पुराने बहाव क्षेत्र से सटी हुई है। दिल्ली दरवाजा और लाहौरी दरवाजा दो प्रमुख प्रवेश द्वार हैं। दीवार के साथ-साथ एक नियमित दूरी पर विशाल गोलाकार बुर्ज हैं। दरवाजों के दोनों ओर अष्टकोणीय मीनारें हैं। इसमें छतयुक्त वीथियां हैं और इसके ऊपर बुर्ज बने हुए हैं। नदी की दिशा को छोड़कर दीवार से सटी हुई खाई बनी हुई है। किले के अंदर अनेक उल्लेखनीय भवन हैं जिनमें *दीवान-ए आम, दीवान-ए खास* और रंगमहल महत्वपूर्ण हैं। *दीवान-ए आम* और रंगमहल छतयुक्त वीथियां हैं इसमें बलुए पत्थर के स्तंभ हैं जिन पर संगमरमर के चूर्ण का मजबूत प्लास्टर किया हुआ है। *दीवान-ए आम* की पूर्वी दीवार के साथ सम्राट का सिंहासन वाला चबूतरा बना हुआ है जिसकी छत बंगाल स्थापत्य की शैली में वक्राकार रुप में निर्मित है। इस संरचना के पीछे पूर्व की ओर रंगमहल स्थित है जिसके आगे एक खुला हुआ बरामदा है। और उत्तर की ओर रंगमहल की सीध में *दीवान-ए खास* है। इन सभी इमारतों की दीवारों, स्तम्भों और खंभों पर फूल-पत्तियों का अलंकरण है।

आगरा के किले की मोती मस्जिद में खुले तोरणयुक्त प्रार्थना कक्ष का इस्तेमाल कर शाहजहां ने एक नया प्रयोग किया। इसके अलावा मस्जिद में मीनारें भी नहीं बनाई गईं। इनके स्थान पर प्रार्थना कक्ष के चारों कोनों पर छतरियों का उपयोग किया गया। एक अर्द्ध-चंद्राकार तोरण के ऊपर तीन उभरे हुए गुम्बद बनाए गए थे। पूरी तरह इमारत संगमरमर से बनी है और काले संगमरमर से उन पर कुरान की आयतें खुदी हैं इससे इसका सौन्दर्य और भी बढ़ गया है।

दिल्ली की जामी मस्जिद, फतेहपुर सीकरी की जामी मस्जिद का विस्तारित रूप है और यह भारत की सबसे बड़ी इमारतों में से एक है। यह एक ऊंचे चबूतरे पर बनी हुई है जिसमें चारों ओर तोरण पथ हैं जिन्हें दो तरफ से खुला छोड़ दिया गया है। पूरी इमारत लाल बलुए पत्थर से बनी है और उनमें प्लास्टर के स्थान और चौखटों को अलकृत करने के लिए संगमरमर का उपयोग हुआ है।

निस्संदेह ताजमहल शाहजहां की सर्वोत्कृष्ट और अनुपम रचना है। इसका निर्माण कार्य 1632 में आरंभ हुआ और इसकी मुख्य संरचना 1643 में बनकर तैयार हो गई। यह परिसर आयताकार है और ऊंची दीवारों से घिरा हुआ है। दक्षिण दिशा के मध्य में एक ऊंचा प्रवेश द्वार है। कुल मिलाकर छह अष्टकोणीय वीथियां हैं – प्रत्येक कोने पर एक-एक और एक पूर्वी और एक पश्चिमी दिशा में । इस परिसर के उत्तरी छोर में ऊंचे चबूतरे पर ताज की मुख्य इमारत अवस्थित है। एकरूपता के लिए इमारत के पूर्वी और पश्चिमी किनारे पर एक तरह की दो मस्जिदें बनी हुई हैं।

ताजमहल एक चौकोर इमारत है जिसके चारों ओर और चारों कोनों पर एक-एक झिर्रीदार कोष्ठिका बनी हुई है। इस इमारत के शीर्ष पर खूबसूरत उभरे हुए गुम्बद हैं जिसके ऊपर उलटा कमल कलश और एक धातु निर्मित कलश अवस्थित है। चबूतरे के चारों कोनों पर चार वृत्ताकार मीनारें हैं जिनके शीर्ष पर स्तम्भयुक्त बुर्जियां हैं। अन्दर की ओर एक केन्द्रीय कक्ष हैं जिसके आसपास प्रकोष्ठ हैं, जो एक दूसरे से एक प्रकाशयुक्त गलियारे से जुड़े हुए हैं। मुख्य कक्ष की छत अर्द्धवृत गुम्बदाकार है। यह दोहरे गुम्बद के अंदर का हिस्सा है। आयतों की नक्काशियों और पच्चीकारियों से बाहरी ओर का अलंकरण किया गया है और अंदर की ओर *पित्राड़्यूरा* किया गया है। भवन निर्माण के काम में लाया गाया संगमरमर उच्च कोटि का है। इसे जोधपुर के मकराना की खदान से लाया गया था। मुख्य इमारत के सामने की फुलवारी चार बराबर हिस्सों में विभक्त है। दो नहरें इन्हें चार हिस्सों में बांटती हैं। मुख्य कक्ष में बनी स्मारक समाधि मूलतः सोने की नक्काशी की गई जाली से घिरी हुई थी। परन्तु बाद में औरंगजेब ने इसे हटाकर संगमरमर की जाली लगवा दी।

17.3.4 अंतिम चरण

यह भाग दो उप-भागों में विभक्त है। पहले में औरंगजेब कालीन भवन निर्माण की गतिविधियों का उल्लेख किया गया है और दूसरे में औरंगजेब के शासनकाल के बाद के समय की वास्तुकला का जिक्र किया गया है।

औरंगजेब की इमारतें

अपने पिता के विपरीत औरंगजेब की स्थापत्य में कोई रुचि नहीं थी। उसके पूर्वजों ने कला को काफी बढ़ावा दिया परंतु उसके शासनकाल में इन सब चीजों का महत्व काफी घट गया। पूर्ववर्ती मुगल शासकों की अपेक्षा औरंगजेब द्वारा बनाए गए भवन काफी कम हैं और इनका स्तर भी साधारण है। साम्राज्य की राजधानी दिल्ली में भी औरंगजेब के नाम से जुड़ी इमारतें कम ही हैं। औरंगजेब द्वारा बनवाई गई इमारतों में औरंगाबाद स्थित उसकी बेगम राबियाउद्दौरान का मकबरा, लाहौर की बादशाही मस्जिद और लालकिला (दिल्ली) में बनी मोती मस्जिद है। आकार और बनावट में बादशाही मस्जिद दिल्ली की मस्जिद से मेल खाती है। इसमें एक बड़ा सभागार, खड़े होकर प्रार्थना करने का कक्ष और कक्ष के प्रत्येक कोने में मीनारें हैं। उपासना स्थल के प्रत्येक कोण पर चार छोटी मीनारें हैं। उपासना स्थल के दोनों ओर एक खास अंतर पर मेहराबी प्रवेश द्वार है। इसमें केवल एक चंदोवा (portal) है। इमारत में ज्यादातर लाल बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं नाम मात्र के लिए संगमरमर का इस्तेमाल किया गया है। उपासना कक्ष के ऊपर तीन उभरे हुए गुंबद खूबसूरत लगते हैं।

लालकिला (दिल्ली) में स्थित मोती मस्जिद इस युग की दूसरी महत्वपूर्ण इमारत है। इस इमारत के निर्माण में उच्च कोटि का संगमरमर लगाया गया है। आगरा के किले में शाहजहां निर्मित मोती मस्जिद से यह मस्जिद मेल खाती है। यहां केवल वक्रता ज्यादा उभर कर सामने आई है। उपासना कक्ष के ऊपर तीन उभरे हुए गुंबद बने हुए हैं जो एक ही आकार की बुर्जी के रूप में बनाए गए हैं।

औरंगजेब की पत्नी के मकबरे में ताजमहल की नकल करने की कोशिश की गई है। लेकिन औरंगजेब का स्थापत्य शिल्पी मकबरे के कोने पर सही ढंग से मीनारों को स्थापित नहीं कर पाया है जिसके कारण पूरे भवन का सामंजस्य बिखर गया है। इसकी मीनारें पूरी संरचना से मेल नहीं खातीं। ताजमहल की नकल करने की कोशिश असफल रही है।

सफदरजंग का मकबरा

1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद साम्राज्य भरभरा कर गिर पड़ा। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बनी कुछ इमारतें इस पतन की गवाह हैं।

दिल्ली में स्थित सफदरजंग का मकबरा इस युग का सबसे महत्वपूर्ण भवन है। यह एक बड़े बाग से घिरा हुआ है और औरंगाबाद में बने रबियाउद्दौरान के मकबरे के समान यहां भी ताजमहल की नकल करने की कोशिश की गई है। हालांकि इसके आकार-प्रकार में बदलाव यह किया गया है कि इसकी मीनारें मुख्य भवन के हिस्से के रूप में ही निर्मित हैं। ये स्वतंत्र ढांचे नहीं हैं। मुख्य भवन छत्तेदार चबूतरे पर खड़ा है। इसमें दो मंजिलें हैं और यह एक बड़े और लगभग गोलाकार गुंबद से आच्छादित है। ये मीनारें बुर्ज की तरह उठी हैं और इसके शीर्ष पर गुंबदनुमा छतरियां हैं। पूरा भवन लाल बलुए पत्थर से बना है जिसमें संगमरमर की पट्टी दी गई है। मेहराबों का अग्रभाग कम वक्र है परंतु यह पूरे भवन की समग्र संरचना से अच्छी तरह मेल करता है।

बोध प्रश्न-4

1) निम्नलिखित वक्तव्यों पर सही (✓) और गलत (×) का निशान लगाइएः

   जहांगीर तथा शाहजहां के काल के स्थापत्य की प्रमुख विशेषता थीः

   i) भवन-निर्माण में लाल बलुए पत्थर के स्थान पर संगमरमर का प्रयोग होने लगा। ( )

   ii) मेहराबों में बहु-पत्रण वक्रता का उपयोग। ( )

   iii) इकहरे गुंबद के स्थान पर दोहरे गुंबद का प्रयोग। ( )

   iv) पच्चीकारी का स्थान ज्यामितीय अंकन और उत्कृष्ट नक्काशी ने ले लिया। ( )

   v) *पित्राड़्यूरा* का प्रयोग। ( )

2) 60 शब्दों में ताजमहल के स्थापत्य पर टिप्पणी लिखिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

3) औरंगजेब के शासनकाल की स्थापत्यगत गतिविधियों पर विचार कीजिए।

   ....

   ....

   ....

4) सफदरजंग के मकबरे पर लघु टिप्पणी लिखिए।

   ....

   ....

   ....

17.4 दिल्ली सल्तनत के अधीन चित्रकला

इस भाग में हम सल्तनत तथा मुगल कालीन चित्रकला की विभिन्न शैलियों के विकास की चर्चा करेंगे।

सल्तनत काल में चित्रकला का इतिहास वास्तुकला की तुलना में अंधकारमय है। इसका मुख्य कारण दिल्ली सल्तनत के प्रथम सौ वर्षों में किसी नमूने का अवशेष न मिलना है।

सचित्र ग्रंथों की अनुपस्थिति भी इतनी ही आश्चर्यजनक बात है। यह कला इस्लामी दुनिया में 1200 तक अपने चरमोत्कर्ष पर थी। फिर भी, शोधकर्ताओं ने पिछले 20-25 वर्षों में नए तथा कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों को खोज निकाला है जिसने इतिहासकारों को अपने विचार पूरी तरह से बदलने पर मजबूर कर दिया है। हमें अब पता चला है कि न सिर्फ सचित्र पुस्तकें बल्कि भित्ति चित्रों की परंपरा भी सल्तनत काल में मौजूद थी। इस तरह से चित्रकला को निम्नलिखित प्रमुख तीन भागों में बांट सकते हैं जिन पर हम अलग-अलग चर्चा करेंगेः a) भित्ति चित्र b) कुरान लिखने की सुलेखन कला, और c) पांडुलिपि चित्रण।

17.4.1 भित्ति चित्रों के साहित्यिक प्रमाण

भित्ति चित्र सल्तनत काल में एक विकसित कला थी। इस पर गहन दृष्टि डालने के लिए इसके बहुत से साहित्यिक प्रमाण इस समय के इतिहास में मिलते हैं। इन्हें साइमन डिग्बी (1967) ने संकलित एवं विश्लेषित किया है।

सल्तनत काल में भित्ति चित्र के प्रारंभिक प्रमाण एक *कसीदा* (*तबकात-ए नासिरी*) में है जो इल्तुतमिश की प्रशंसा में 1228 में खलीफा से उसे उपहारस्वरूप *खिल्लत* मिलने के अवसर पर लिखा गया था। इस कविता की पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि मुख्य मेहराब के चाप स्कंध (spandrels) पर चित्रित जानवर एवं मानव आकृतियां खलीफा के दूत के स्वागत के लिए बनाई गई थीं।

चित्रकला का सबसे महत्वपूर्ण अकेला प्रमाण अफीफ की *तारीख-ए फिरोज़शाही* में फिरोज़ शाह तुगलक द्वारा दिल्ली सल्तनत के पूर्ववर्ती शासकों की गैर-इस्लामी प्रवृत्तियों पर रोक लगाने से संबंधित है। इससे पता चलता है कि दिल्ली के महलों की दीवारों पर आकृति चित्रित करने की परंपरा बराबर अस्तित्व में थी जिस पर फिरोज़ तुगलक ने रोक लगा दी थी।

चित्रकला की यह परंपरा सिर्फ भित्ति चित्र तक ही सीमित नहीं थी। कुतबुद्दीन मुबारक खलजी (1316-1320) द्वारा दी गई मनोरंजक पार्टियों से संबंधित एक प्रमाण से पूर्ण रूप से चित्रकारी किए हुए खुले तंबुओं का वर्णन है। इससे पता चलता है कि सजावट रंगीन कपड़ों पर रही होगी (*नूह सिपहर*, अमीर खुसरो द्वारा रचित)।

इसके विपरीत, आम लोगों के घरों में भित्ति चित्र की परंपरा थी, विशेषकर गैर-मुस्लिम घरों में। यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता हैः

- मौलाना दाऊद द्वारा कृत 14वीं शताब्दी की हिंदी कविता *चंदायन* (जो 1379-1380 में लिखी गई थी) में वर्णित एक पद में घर में रंगीन सज्जापूर्ण ऊपरी कक्षों का वर्णन है जिसमें चंदा, कविता की नायिका, अपनी सखियों के साथ सोती है।
- इस कविता की 15वीं शताब्दी में चित्रित पांडुलिपि के एक चित्र में चंदा के शयनकक्ष को दिखाया गया है, जिसकी दीवारों पर *रामायण* के दृश्य चित्रित किए गए हैं।

17.4.2 *कुरान* लिखने की सुलेखन कला

इस्लामी संसार में सुलेखन की कला को एक पवित्र कला माना जाता था जिसका प्रयोग कागजों एवं पत्थरों पर सजावट के लिए किया जाता था। हस्तशिल्पियों में सुलेखक को पांडुलिपियों को सजाने वाले एवं चित्रकार से ऊपर रखा गया। लेकिन *कुरान* का सुलेखन पुस्तक कला का एक महत्वपूर्ण रूप बन गया जहां *कुरान* की प्रतिलिपियां भव्य और व्यापक पैमाने पर बनाई गईं।

कुरान की प्रथम प्रतिलिपि 1399 की है। यह ग्वालियर में सुलेखित की गई थी। इसमें ईरानी तथा भारतीय स्रोतों से ग्रहण किए गए नाना प्रकार के अलंकारिक प्रतिमान हैं। इस हस्तलिपि के

अग्र पृष्ठ का ज्यामितीय चित्र सल्तनत शैली का प्रतीत होता है जिससे स्पष्ट होता है कि 14वीं शताब्दी में दिल्ली की चित्रशालाओं की निम्नलिखित विशेषताएं थीं:

- यह ईरानी परंपरा से संबंधित है।
- शीर्षकों और पट्टिकाओं के अभिलेखों में प्रयुक्त *कुरान* की लिखावट ज्यादातर कूफी शैली की है।
- अग्र पृष्ठ के ज्यामितीय चित्रों का चित्रण इस शैली की विशेषता थी।

15वीं शताब्दी में सैय्यद और लोदी वंश में पुस्तक कला की दशा खिन्न अवस्था में थी क्योंकि यह बड़े पैमाने पर कलापूर्ण प्रयासों को संरक्षण देने में असमर्थ रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रयासों को प्रांतीय शासकों द्वारा अपनाया गया।

17.4.3 पांडुलिपि चित्रण

सल्तनत काल में ग्रंथ चित्रण एक अत्यधिक विवादपूर्ण विषय रहा है। इसकी शब्दावली एवं उत्पत्ति पर विद्वानों के मध्य सहमति नहीं है। इसलिए सल्तनत काल के पांडुलिपि चित्रण की व्याख्या की विशेषताओं को निश्चित करना बड़ा ही जटिल कार्य है। इसके विपरीत यद्यपि अत्यधिक संख्या में फारसी और अवधी में, 1400 से मुगलों के आगमन तक कई ग्रंथ चित्रण मिलते हैं। इनमें से कुछ हस्तलिपियां प्रांतीय दरबारों में चित्रित हुई प्रतीत होती हैं। फिर भी, ऐसी विशेष पांडुलिपियों का भी समूह है, हालांकि वे संख्या में कम हैं, जिनका किसी दरबार से कोई संबंध नहीं है। यह संरक्षकों के लिए स्वतंत्र रुप से तैयार की हुई प्रतीत होती हैं, लेकिन सल्तनत काल में ही तैयार की गई होंगी। कभी-कभी इनको 'बुर्जुआ समूह' प्रतिनिधित्व करने वाली के रूप में परिभाषित किया जाता है और इनका काल 1450-1500 माना जाता है। 'बुर्जुआ समूह' को प्रस्तुत करने वाली दो हस्तलिपियां *हमज़ानामा* और *चंदायन* हैं।

बोध प्रश्न-5

1) दिल्ली सल्तनत में भित्ति चित्र परम्परा का वर्णन कीजिए।

....
....
....
....

2) भारत में सबसे पहले *कुरान* की प्रतिलिपि कब और कहां बनाई गई?

....
....
....
....

3) चित्रकारी के 'बुर्जुआ समूह' को परिभाषित कीजिए।

....
....
....
....

17.5 मुगलों के अधीन चित्रकला

16वीं शताब्दी, खासकर इसके उत्तरार्ध में भारत में चित्रकला और संगीत के क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। अकबर ने अपने शासन के दौरान ललित कलाओं के विकास को उदारतापूर्वक संरक्षण प्रदान किया। उसके उत्तराधिकारियों ने भी इन कलाओं में गहन रुचि दिखाई और 17वीं शताब्दी के अंत होते-होते मुगल दरबार में चित्रकला और संगीत अपने अभूतपूर्व उत्कृष्ट पर पहुंच गया।

इसके साथ-साथ दक्खन में मुगल प्रभाव से काफी कुछ स्वतंत्र चित्रकला और संगीत की एक अलग परंपरा विकसित हो रही थी। बाद में, 18वीं शताब्दी में मुगल दरबार के स्थान पर राजस्थान और पंजाब जैसे क्षेत्रीय राज्य चित्रकला को संरक्षण देने लगे।

इस भाग में हम चित्रकला की क्षेत्रीय शैलियों के बजाय मुगल-पूर्व और मुगल चित्रकला के विकास पर अध्ययन केन्द्रित करेंगे।

17.5.1 पृष्ठभूमिः 15वीं शताब्दी में चित्रकला

इस भाग में हम उस मुगल-पूर्व पृष्ठभूमि की चर्चा करेंगे जिसमें चित्रकला का विकास हुआ।

अभी तक यह विश्वास किया जाता था कि दिल्ली सल्तनत में चित्रकला का विकास नहीं हुआ और मुगल काल में तैयार हस्तलिखित पांडुलिपियों में प्राप्त चित्रकला की परंपरा वस्तुतः कई शताब्दियों के बाद (10वीं शताब्दी के अंत के बाद) पुनः प्रारंभ हुई। एक प्रकार से यह चित्रकला का पुनरुत्थान था। परंतु नई खोजों और शोधों से कुछ नए तथ्य सामने आए हैं:

- 13वीं और 14वीं शताब्दियों में भित्ति चित्रों की और कपड़ों पर चित्रकारी करने की जीवंत परंपरा थी (**उप-भाग 17.4.1**),
- 14वीं शताब्दी तक *कुरान* की आयतों को चित्र रूप से प्रस्तुत करने की परंपरा साथ-साथ चल रही थी (**उप-भाग 17.4.2**), और
- संभवतः 15वीं शताब्दी के आरंभ में फारसी और अवधी भाषा की पांडुलिपियों में चित्रकारी की परंपरा की भी जानकारी मिलती है (**उप-भाग 17.4.3**)।

15वीं और 16वीं शताब्दी में तैयार की गई कई महत्वपूर्ण पांडुलिपियों की हमें जानकारी मिलती है जिनमें चित्र भी बने हैं। इनमें से कुछ कृतियां क्षेत्रीय राजाओं के दरबार में तैयार की गई थीं और कुछ का निर्माण स्वतंत्र संरक्षकों द्वारा करवाया गया था। पहली कोटि में निम्नलिखित की चर्चा की जा सकती है:

- सादी की *बोस्तां* में हाजी महमूद के बनाए चित्र,
- *नेमत नामा* (पाककला की पुस्तक), और
- मुहम्मद शादिआबादी कृत *मिफताह-उल फुज़ला*।

15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मांडू (मालवा) में इन पांडुलिपियों में चित्रों का समावेश किया गया था। *लौर चंदा* (अवधी) दूसरे प्रकार की चित्रित पांडुलिपि का उत्तम उदाहरण है जिसका संबंध दरबार से नहीं था बल्कि इसे अपने संरक्षक के लिए तैयार किया गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में मुगलों के आगमन से ठीक पहले चित्रित पांडुलिपियों की परंपरा मौजूद थी। कागज के उपयोग के कारण इस प्रकार की चित्रकारी संभव हो सकी।

17.5.2 आरंभिक मुगल कालीन चित्रकला

भारत में मुगल शासन के संस्थापक बाबर (1526) ने केवल चार वर्षों तक राज्य किया। चित्रकला के विकास में उसका कोई योगदान नहीं रहा। उसके उत्तराधिकारी हुमायूं का भी अधिकांश समय अपने विरोधियों से लड़ते हुए बीता और 1540 में शेरशाह ने उसे भारत से बाहर खदेड़ दिया। अपने निष्कासन के दौरान वह ईरान के शाह तहमस्प के दरबार में रहा और वहीं चित्रकला के प्रति उसके रुझान का विकास हुआ। वह वहां की कला से इस कदर प्रभावित हुआ कि उसने ईरान के दो कलाकारों मीर सैयद अली और ख्वाजा अब्दुस समद से अपने लिए पांडुलिपियां तैयार करने के लिए निवेदन किया। भारत लौटने पर हुमायूं उन्हें अपने साथ लेता आया।

मुगलकालीन चित्रकला के विकास में हुमायूं का योगदान महत्वपूर्ण है। हुमायूं के शासनकाल में मुगल चित्रकला की कई महत्वपूर्ण विशेषताओं का उद्भव हुआ। 'तैमूर घराने के राजकुमार' शीर्षक से बनाया गया चित्र हुमायूं के काल की अनुपम देन है। यह 1550 के आसपास बनाया गया था। इसे कपड़े पर चित्रित किया गया है। इसकी लंबाई 1.15 वर्ग मीटर है। ईरानी चित्रकला में भी इतना लंबा चित्र मिलना अपवाद था। ऐसा माना जाता है कि यह मंगोल परंपरा की देन है जिसमें वे अपने तंबुओं पर चित्र बनाया करते थे।

17.5.3 अकबर के शासनकाल में मुगल शैली का विकास

अकबर का कलाओं के प्रति अत्यधिक रुझान था। मुगल चित्रकला का अन्य शैलियों से भिन्न एक अलग स्कूल के रूप में स्थान प्राप्त करना अकबर की इसी रुचि का परिणाम था।

चित्रकला पर अकबर के विचार

किसी चीज की प्रतिकृति बनाने को *तस्वीर* कहते हैं। महामहिम ने अपनी युवावस्था में से ही इस कला के प्रति गहरी रुचि दिखाई थी और इसे सभी प्रकार का प्रोत्साहन दिया था, क्योंकि वे उसे अध्ययन के साथ-साथ तृप्ति का साधन भी मानते थे। इस प्रकार यह कला फलने-फूलने लगी और कई चित्रकारों ने खूब नाम कमाया। *दरोगा* और लिपिक महामहिम के समक्ष प्रत्येक सप्ताह विभिन्न चित्रकारों के चित्र पेश किया करते थे, उसके बाद वे (अकबर) उन्हें उनके कार्य के अनुसार पुरस्कार देते थे या वेतन में प्रतिमाह वृद्धि करते थे। चित्रकारी के लिए आवश्यक सामग्री में (इस समय) काफी प्रगति हुई। इन सामानों का मूल्य बड़ी सावधानी से आंका जाता था। रंग के मिश्रण की तकनीक में विशेष रूप से विकास हुआ था। इस प्रकार चित्रों की बनावट में अभूतपूर्व विकास हुआ। इस काल में बेहतरीन चित्रकार हुए और उनकी उत्कृष्ट कलाओं, बिहज़ाद के सदृश्य, को यूरोप के विश्वविख्यात चित्रकारों की रचनाओं के समक्ष रखा जा सकता है। सूक्ष्मता से चित्रण, सुंदर बनावट और उन्मुक्त प्रस्तुति, आदि से इस युग की चित्रकला अतुलनीय हो गई, चित्रकारों ने जड़ पदार्थ में भी जीवन डाल दिया। इस युग में सैकड़ों चित्रकार चित्रकला के महारथी थे, अच्छे और उत्कृष्ट कलाकारों की संख्या काफी बड़ी थी। यह बात विशेषतः हिंदुओं के परिप्रेक्ष्य से सही है; उनके चित्र कल्पना के अनुपम नमूने हैं। पूरे विश्व में उन जैसे कम कलाकार ही पाए जाते हैं।

स्रोतः अबुल फ़ज़ल, *आइन-ए अकबरी*

राजकीय चित्रशाला की स्थापना

अकबर के शासन में पहला प्रमुख पांडुलिपि चित्रण *हमज़ानामा* की चित्रकारी थी। इसकी शुरुआत 1562 में हुई जिसके लिए कई दरबारी चित्रकार नियुक्त किए गए।

चित्रकारों के कार्य करने के स्थान को *तस्वीरखाना* कहा जाता था। हालांकि अबुल फज़ल ने केवल सत्रह कलाकारों का उल्लेख किया है, परंतु हमारी जानकारी के अनुसार यह संख्या काफी बड़ी थी। एस.पी. वर्मा (1978) ने अकबर की शिल्पशाला में काम करने वाले 225 कलाकारों की सूची तैयार की है। ये कलाकार कई जगहों से आए थे, परंतु इनमें हिंदुओं की संख्या अधिक थी। एक रोचक तथ्य यह है कि '(वर्णाश्रम के अनुसार) निम्न' जाति के कलाकारों को भी उनकी प्रतिभा के आधार पर राजकीय कलाकार का दर्जा दिया गया था। इस दृष्टि से पालकी ढोने वाले कहार के बेटे दसवंत का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। कलाकारों की सहायता के लिए अनेक *मुलम्मासाज़* (gilders), आरेख चित्रण करने वाले और पृष्ठ तैयार करने वाले होते थे। कलाकार नगद वेतन प्राप्त कर्मचारी थे। एस.पी. वर्मा का मानना है कि शिल्पशाला में न्यूनतम वेतन 600 से 1200 दाम (40 दाम = 1 रुपया) था।

कुछ चित्रों पर दो चित्रकारों के नाम पाए गए हैं। यहां तक कि कभी-कभी तीन चित्रकार मिलकर एक चित्र बनाते थे। *अकबरनामा* का एक चित्र चार चित्रकारों ने मिलकर बनाया था। इस प्रकार चित्रकला एक सामूहिक कार्य के रूप में भी सामने आती है। चित्र का आरेख निर्माण और रंगाई, चित्रकारों के दो अलग-अलग समूहों द्वारा की जाती थी। जहां तीन कलाकार काम कर रहे होते थे, वहां एक कलाकार बाहरी रूपरेखा बनाता था, दूसरा इसके चहेरे को और तीसरा बाकी हिस्से को रंगता था। हमें इस बात का पता नहीं है कि यह जटिल कार्य किस ढंग से संपन्न होता था। संभवतः इस प्रकार के दल में आरेखन और रंगाई अलग-अलग कलाकारों द्वारा की जाती होगी।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि लिपिकों की सहायता से *दरोगा* शिल्पशाला की देखरेख करता था। कलाकारों को चित्रकारी का सामान उपलब्ध कराना और उनके कार्य की प्रगति पर नजर रखना उसका मुख्य दायित्व था। वह समय-समय पर सम्राट के सामने कलाकारों की कृतियों को पेश किया करता था।

शैली और तकनीक

अकबर के दरबार में बनाए गए चित्र मुगल कला की प्रतिनिधि रचनाएं हैं परंतु इस कला की शैली और तकनीक में बराबर विकास होता रहा। आरंभिक चरण के चित्रों पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट है, जिसकी मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैंः

- सममिति (symmetrical) संरचना,
- आकृतियों की प्रतिबंधित गतिशीलता,
- चित्रों की रेखाओं की उत्कृष्टता,
- स्थापत्यगत स्तंभों का सतही चित्रण, और
- भवनों का अलंकारिक चित्रण।

बाद में चित्रकला ने अपना एक विशेष स्वरूप निर्मित किया। मुगल कला का वह रूप ईरान और भारतीय परंपराओं से निर्मित हुआ जिसमें यूरोपीय प्रभाव की भी थोड़ी बहुत झलक देखने को मिलती है।

मूलभूत विशेषताएं

अकबर द्वारा शिल्पशाला स्थापित किए जाने के 15 वर्षों के भीतर मुगल शैली की अपनी पहचान बन गई। अगले एक दशक में अर्थात् 1590 तक इसने एक विशेष स्वरूप ग्रहण कर लिया जिसकी प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैंः

- प्रकृतिवाद और लय,
- प्रतिदिन प्रयोग किए जाने वाले भारतीय परिधानों का चित्रण,
- प्रमुख चित्र की पृष्ठभूमि में कई उप-दृश्यों का चित्रण,
- अभूतपूर्व क्रियाशीलता तथा अत्याधिक गतिशीलता, तथा
- फूल-पत्तियों और पेड़-पौधों का अद्भुत चित्रण।

यहां इस तथ्य पर बल दिया जाना चाहिए कि अकबर के काल में निखरी चित्रकला में भारतीय और ईरानी शैली का तो समन्वय था ही साथ ही साथ इसकी अपनी मौलिकता भी थी। इन चित्रों में गति और क्रिया का विशेष महत्व है जो न तो पूर्व मुगलकालीन भारतीय कला से मिलता है और न ही ईरान में ही ऐसी कला का प्रचलन था (क़ैसर और वर्मा, 1993)।

अकबर के काल में बने चित्र ऐतिहासिक विषयवस्तु के कारण ईरानी परंपरा के साथ-साथ भारतीय शैली से भी अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करते हैं। मुख्य रूप से प्रयुक्त दो विषयवस्तु हैंः

- दरबार की प्रतिदिन की घटनाओं का चित्रण, और
- विशिष्ट व्यक्तियों का छवि चित्रण।

हालांकि ईरान में छवि चित्रण बनाने की परंपरा थी, परंतु ऐतिहासिक घटनाओं के चित्रण का आयाम बिल्कुल नया था। घटना ऐतिहासिक हो या चित्रकार की शुद्ध कल्पना, शिकार या युद्ध के दृश्यों का अंकन करते समय चित्रकार एक बने-बनाए सूत्र का प्रयोग करता था। किसी खास घटना का चित्रण करते हुए भी चित्रकार घटना से असंबंध दिखाई देता है, जैसा कि 1580 के आसपास चित्रांकित किए गए *तैमूरनामा* में। इसमें कलाकारों ने अपने मन में पूर्व स्थापित परिकल्पना के अनुसार किलों का आकार, नदी पार करने, दर्शकों अथवा युद्ध संबंधी दृश्यों का चित्रण किया है। *अकबरनामा* में भी कलाकारों ने इन दृश्यों की नकल की है या उन्हें अपने अनुसार ढाल लिया है। कोई दृश्य पहले से उपलब्ध न होने की स्थिति में चित्रकार ही दृश्य विशेष की योजना करता प्रतीत होता है और मात्र कुछ चित्रकार इस प्रकार के नूतन प्रयोग करने में सक्षम दिखाई देते हैं।

हमने यहां ऐतिहासिक क्रम में इस काल में चित्रांकित प्रमुख ग्रंथों का उल्लेख किया है:

ग्रंथ	तिथि
हमज़ानामा	लगभग 1562-1580
अनवार-ए सुहेली	1570
तूतीनामा	लगभग 1570-1580
तरीख-ए खानदान ए तैमूरिया	लगभग 1570-1590
बाबरनामा	लगभग 1570-1590
अकबरनामा	लगभग 1570-1600
तारीख-ए अल्फी	लगभग 1570-1600
रज़्मनामा	1582

बोध प्रश्न-6

1) आरंभिक मुगल शासकों के अधीन चित्रकला के विकास पर 50 शब्दों में टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

2) राजकीय शिल्पशाला में चित्रकारों द्वारा सामूहिक चित्रण की अवधारणा का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

3) मुगलकालीन चित्रकला शैली की चार विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

17.5.4 जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल में विकास

जहांगीर और शाहजहां के काल में मुगलकालीन चित्रकला अपने उत्कर्ष पर पहुंच गई। जहांगीर जब राजकुमार था तब से ही वह चित्रकारी में रुचि रखता था। अकबर की विशाल शिल्पशाला से अलग उसकी अपनी चित्रशाला थी। जहांगीर शिकार के दृश्यों, पक्षियों और फूलों की चित्रकारी पसंद करता था। उसने छवि चित्रण की परंपरा भी जारी रखी। शाहजहां के समय की चित्रकारी में रंगों की चमक बढ़ गई और अलंकरण के लिए सोने का उपयोग होने लगा। आगे के उप-भागों में हम जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल में मुगल चित्रकला की नई शैलियों और विषयगत विविधताओं का अध्ययन करेंगे।

नई शैलियों का उदय

जहांगीर के शासनकाल (1605-1627) में छवि चित्रण की तुलना में पांडुलिपि चित्रण का महत्व कम हो गया। एम.सी. बीच (1992) के अनुसार जहांगीर चित्रकारी में व्यक्तिगत रुचि लेता था और उसका हस्तक्षेप राजकीय चित्रशाला के कार्यकलापों में भी था। स्पष्टतः कला संबंधी निर्णय स्वयं सम्राट के होते थे। परिणामस्वरूप चित्रकला में वह अपने द्वारा प्रतिपादित शैली का समावेश कर सका। 17वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मुगल चित्रकला की शैली में दो नए तत्व शामिल हुए यह इस प्रकार हैं:

- जहांगीर की चित्रकला में रूपवादी (formalist) शैली की प्रधानता है अर्थात इसमें चित्र को यथार्थवादी बनाने और समकालीन यथार्थ को हू-ब-हू चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है।
- इस काल के चित्रों में चौड़े हाशिए का प्रयोग किया गया, जिन्हें फूल-पत्तियों, पेड़-पौधों और मनुष्य की आकृतियों से भव्य रूप से अलंकृत किया गया है।

विषयगत भिन्नताएं

जहांगीर प्रकृति प्रेमी था। जब भी वह अनूठे जानवर या पक्षी देखता था तो उसके चित्रकार उसे तत्काल चित्रित कर देते थे। उसके जमाने में पक्षियों और पशुओं का बड़ा ही जीवंत चित्रण हुआ है।

शाहजहां स्थापत्य कला का महान् संरक्षक था, परंतु उसने चित्रकला की भी उपेक्षा नहीं की। उसके समय में भी छवि चित्रण बनाए जाते थे, चित्रों का संग्रह (एलबम) तैयार किया जाता था और पांडुलिपि चित्रण बनाए जाते थे। इसके अलावा प्रणय दृश्यों और महिलाओं के चित्र भी बनने लगे। इस काल की चित्रकला में पशु के अध्यारोपण और कलाबाजी के दृश्यों को भी स्थान मिला।

17.5.5 अंतिम चरण

शाहजहां के उत्तराधिकारी औरंगजेब के काल में कलाएं उपेक्षित रहीं। चित्रकारी पूरी तरह रुकी नहीं परंतु इसे सम्राट का संरक्षण प्राप्त होना समाप्त हो गया और उसका क्षेत्र कुलीनों की चित्रशालों तक सिमटकर सीमित हो गया। राजपूत राजाओं के दरबारों में कुलीनों और उनके संबंधियों के छवि चित्र बनाए जाते रहे। चित्रकला संबंधी राजपूतों के अनेक दस्तावेज (*तस्वीरखाना* दस्तावेज) राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में आज भी उपलब्ध हैं। वहां मुगल सम्राट के अभियान संबंधी कुछ रोचक चित्र संग्रहित हैं। इन चित्रों में चित्रकार की कला उत्तम है परंतु अब चित्रकारी औपचारिकता मात्र रह गई थी और उसमें पहली जैसी जीवंतता नहीं रह गई।

बाद में मुहम्मद शाह (1719-1748) के शासनकाल में प्रणय के आकर्षक दृश्यों की चित्रकारी शुरू हुई। परंतु इस समय तक राजकीय चित्रशाला के अधिकांश चित्रकार प्रांतीय शासकों के दरबारों में जा चुके थे। मुगल कला के पतन से प्रांतीय शैली को लाभ पहुंचा।

17.5.6 मुगल चित्रकला पर यूरोप का प्रभाव

अपने बाद के चरण में, विशेषकर 17वीं शताब्दी के दौरान, मुगल चित्रकला पर यूरोपीय कला का प्रभाव दिखाई देता है। मुगल चित्रकारों ने यूरोप की चित्रकला से विषयवस्तु के साथ-साथ तकनीक को भी अपनाया। ए. जान क़ैसर (1982) के अनुसार मुगल चित्रकार यूरोपीय चित्रकला की नकल किया करते थे और कभी-कभी इसे पुनर्व्याख्यायित भी किया करते थे। इसके साथ-साथ यूरोप के चित्रकारों के चित्रों के संग्रह जहांगीर, दाराशिकोह और कई मुगल कुलीनों के पास मौजूद थे।

यूरोपीय चित्र जब मुगल दरबार में लाए गए तो आरंभ में बहुत से चित्रकार इसकी नकल करने की ओर प्रवृत्त हुए। समकालीन यूरोपीय यात्री वर्णन करते हैं कि इस प्रकार की नकल में एक प्रकार की सहजता थी। परंतु मुगल चित्रकारों ने यूरोपीय चित्रकला की विषयवस्तु को अपनाकर नए प्रयोग भी किए।

मुगल चित्रकला में त्रिआयामी (three dimensional) चित्रों का भी विशेष महत्व है। स्पष्टतः इन पर यूरोपीय तकनीक का प्रभाव है। मुगल चित्रकारों ने यूरोपीय चित्रकला के प्रकाश और छाया (light and shade) के प्रभाव को अंकित करने की शैली भी अपनाई। इनका उपयोग अधिकतर रात के दृश्यों के अंकन के लिए होता था। 'प्रभामंडल', परों वाले देवदूत और गरजते बादलों का अंकन भी यूरोपीय चित्रकला के प्रभाव का प्रतिफल था। परंतु यूरोप की महत्वपूर्ण तैल चित्रकला की तकनीक की ओर मुगल आकृष्ट नहीं हुए। इस काल में तैल चित्रों का सर्वथा अभाव रहा।

बोध प्रश्न-7

1) 17वीं शताब्दी के दौरान मुगल चित्रकला में हुए विषयगत परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।

....

....

....

2) किस मुगल शासक एवं राजकुमार ने यूरोपीय चित्रों का संग्रह अपने एलबम के लिए बनाया था?

....

....

....

3) चित्रकारों ने यूरोपीय चित्रकला के किन-किन रूपांकनों (motifs) को अपनाया?

....

....

....

17.6 सारांश

वास्तुकला

ऊपर वर्णित विशेषताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि दिल्ली सल्तनत में कला एवं वस्तुकला का विकास असमान रूप में हुआ। जबकि वास्तुकला का विकास एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है लेकिन अन्य कलाएं जैसे –चित्रकला, संगीत आदि पर विशेष ध्यान केंद्रित नहीं किया गया। उनके विकास में व्यक्तिगत प्रयासों, जो विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण थे, का अभाव था। बहुत सी कलात्मक भावनाओं को संरचनात्मक तथा शैलीगत रूप में वास्तुकला में अभिव्यक्त किया गया है। इस काल में नागरिक भवनों – सार्वजनिक भवनों एवं सार्वजनिक कार्यों को बढ़ावा मिला।

हालांकि इन संरचनाओं के प्रति रुचि अपेक्षाकृत नवीन है लेकिन वे किसी भी हिन्द-इस्लामी वास्तुकला के विस्तृत सर्वेक्षण में अपने स्थान का दावा कर सकती हैं:

- यह वास्तुकला मुख्य रूप से बहुत मामलों में शहरी परिवेश में प्रतीत होती है। भवनों के मुख्य प्रकार हैं – मस्जिद, मकबरा, महल-किला। सार्वजनिक उपयोग की संरचनाओं में *सराय*, पुल, सीढ़ीनुमा कुएं और जलाशय हैं।
- वास्तुकला संबंधी किसी विशिष्ट कार्य के लिए वास्तुकला की कोई निश्चित शैली नहीं थी। एक ही शैली का प्रयोग कई उद्देश्यों के लिए किया जाता था। इसके उदाहरण के लिए चारों तरफ से घिरे आंगन के रूप की किसी संरचना को लिया जा सकता है जो महल, मस्जिद, *सराय* और मदरसे सभी संरचनाओं के लिए उपयुक्त था।
- इस वास्तुकला की मुख्य विशेषता है चारों तरफ से घिरी जगहों, जिनका सीमांकन दीवारों, मेहराबों और मेहराबदार छतों से किया जाता था।
- इस वास्तुकला की सुसज्जा बहुधा इस प्रकार की है जिसकी सजावटी संरचना के लिए बाहर के स्थान को चुना गया है। इसके मुख्य तत्व हैं – *अरबेस्क*, ज्यामिती तथा पत्रण (foliation)।

बाबर और हुमायूं ज्यादातर अपनी राजनैतिक समस्याओं में उलझे रहे। इसलिए उन्हें भवन निर्माण का बहुत कम अवसर मिला। हालांकि बाबर खुद बगीचों का प्रेमी था और अपने छोटे से शासनकाल में उसने भारत में कई बागान लगवाए थे। मुगलों की स्थापत्यगत गतिविधियों की असल शुरुआत अकबर के समय से हुई। उसकी इमारतें मुख्य रूप से लाल बलुए पत्थर से निर्मित हैं। अकबर के भवनों में मेहराबों और शहतीर शैलियों का सुंदर सम्मिश्रण है। जहांगीर स्थापत्य की अपेक्षा चित्रकला में ज्यादा रुचि रखता था। हालांकि चित्रकला में रुचि होने के कारण समकालीन स्थापत्य और अलंकरण में नयापन आया। चित्रकारी, पशुओं और फूल-पत्तियों के डिजाइनों का अलंकरण के लिए इस्तेमाल होने लगा और *पित्राड़्यूरा* नामक नई अलंकरण शैली जहांगीर के समय सामने आई। शाहजहां के शासनकाल में मुगल स्थापत्य अपने उत्कर्ष पर पहुंच गया और इस समय संगमरमर का उपयोग ज्यादातर होने लगा। शाहजहां द्वारा निर्मित सफेद संगमरमर में ढला ताजमहल एक अनुपम और अमर कृति है। इसका दोहरा गुम्बद, मीनारें, बहु-पत्तीदार पत्रण (multi-foliated) मेहराबें, आदि स्थापत्य कला के चरम उत्कर्ष की गवाह हैं। उसका

उत्तराधिकारी औरंगजेब भवन निर्माण गतिविधि के प्रति उदासीन था। इसलिए उसके शासनकाल में कम भवनों का निर्माण हुआ है। औरंगजेब के बाद का काल पतन का काल था। अव्यवस्थित राजनैतिक माहौल में स्थापत्य में रुचि लेना मुगल शासकों के वश में नहीं था। इस माहौल में बड़ी इमारतों का निर्माण नहीं हो सकता था। इस काल का एकमात्र स्मारक दिल्ली स्थित सफदरजंग का मकबरा है।

चित्रकला

भित्ती चित्रों की जीवंत परंपरा, जिसकी प्रेरणा गज़नवी शासन से ग्रहण की, दिल्ली सल्तनत में कम से कम 1350 तक जीवित रही। इस परंपरा में *महाभारत* और *रामायण* की पौराणिक कथाओं से लेकर अन्य लोकप्रिय लोक-कथाओं तक का भंडार है। दूसरी प्रधान परंपरा जो इस काल में उभरी, वह थी सचित्र पांडुलिपि चित्रण। लेकिन यह दरबारी संरक्षण से स्वतंत्र थी इसलिए इन्हें 'बुर्जुआ' कहा जाता है। पांडुलिपि की सचित्र व्याख्या एवं *कुरान* लेखन की कला तैमूर के आक्रमण तक ही फली-फूली। इस पर ईरानी शैली का प्रभाव पूरी तरह हावी रहा। यह परंपरा 1398 (तैमूर द्वारा दिल्ली की लूट का काल) के बाद जल्दी ही नष्ट हो गई लेकिन यह प्रांतीय दरबारों में फली-फूली और अंकुरित हुई।

- आकृति कला की परंपरा भित्ति चित्र एवं कपड़े पर चित्रकारी के रूप में 13वीं और 14वीं शताब्दी में शुरू हुई जिसकी प्रेरणा गज़नवी राज्य से मिली।
- कूफी भाषा में *कुरान* के सुलेखन की समकालीन परंपरा भी 1398 तक जीवित रही (दिल्ली में तैमूर की लूटपाट के समय)। यह कला भारत में कागजों के प्रचलन के साथ विकसित हुई।
- दूसरी परंपरा फ़ारसी एवं अवधी पांडुलिपि की सचित्र व्याख्या की थी जो शायद 15 वीं शताब्दी के शुरू में आरंभ हुई और शाही दरबारों से अलग स्वतंत्र रूप से विकसित हुई।

इस इकाई के अंतिम भाग में आपने मुगलों के अधीन चित्रकला और ललितकला के विकास का अध्ययन किया। इस काल की कला की प्रमुख विशेषता इसकी सारग्राहिता (eclecticism) थी। इस काल की कलाओं में कई प्रकार के तत्वों का मिश्रण हुआ। चित्रों में ईरानी प्रभाव के साथ-साथ देशी परंपराओं का भी उपयोग हुआ। 17वीं शताब्दी के दौरान इस पर यूरोपीय चित्रकला का भी प्रभाव पड़ा।

17.7 शब्दावली

वास्तुकला

स्तंभ और धरनी	छत अथवा खुले हुए स्थान को पाटने का एक तरीका जिसमें बल्लियों अथवा लकड़ी या पत्थर के तख्तों से छत डाली जाती है
कदलिकाकृत	छत अथवा खुले हुए स्थान को पाटने का एक तरीका जिसमें पत्थरों को अंदर की तरफ रखकर छत पटी जाती है
अरबेस्क	*कुरान* के सुलेखन की कला। चूंकि *कुरान* अरबी लिपि में है इसलिए यह *अरबेस्क* कहलाई
शुंडाकार	अंदर की ओर हल्की सी झुकी हुई दीवारें
पत्रण (foliation)	बेल-बूटे बनाने की कला
ओरी	ढलावदार छत की दीवार के बाहर निकला निचला हिस्सा
कोष्ठिका	गुंबदाकार झिरी
तोरण पथ	छतयुक्त मेहराबों की श्रृंखला
मेहराब	ईंटों या पत्थर के खंडों से बना अपने बल पर खड़ा ढांचा जिसके ऊपर कोई ढांचा खड़ा किया जाता है

बावली	सीढ़ीनुमा कुआं
ब्रैकेट	ताक दीवार का सहारा
स्मारक समाधि	किसी की याद में बनाई गई इमारत
घुमावदार मेहराब	ऐसी मेहराब जो अंदर की ओर नोकदार हो
स्तम्भावलि	स्तंभों की एक पंक्ति
सेतुमार्ग	पानी के बीच बना रास्ता
बुर्जी	गुंबद का भीतरी भाग
गुंबद	एक चौकोर, अष्टकोणीय या वृत्ताकार संरचना के ऊपर बना उत्तल छत
छज्जा	छत का निकला हुआ बाहरी हिस्सा
रंगीन मेहराब	फूल-पत्तियों से अलंकृत मेहराब
कलश	शिखर
छतरी	एक खुली वीथी जिसकी छत स्तंभों के सहारे टिकी हुई हो
खंभे	पत्थर और ईंट को जोड़कर बनाई गई संरचना जो क्षैतिज भाग उठाए रखते हैं
पित्राड्यूरा	संगमरमर की खुदाई कर उसमें चमकीले पत्थरों को जड़ना और अलंकृत करना
चंदोवा	आगे का हिस्सा
गचकारी **(stucco)**	दीवारों पर नक्काशी की कला
बुर्ज	भवन के साथ लगी मीनारें

चित्रकला

भित्ति चित्र	दीवार पर की गई चित्रकला
पट्टिका	चित्रकारी के लिए चित्रकार द्वारा रंग रखने और मिलाने के लिए उपयोग की जाने वाली चौकोर पट्टिका
आरेख	रेखाचित्र
मुलम्मासाज	चित्रों के ऊपर सोने की एक लगभग पारदर्शी परत चढ़ाने वाले
छवि चित्रण	विशिष्ट व्यक्तियों के चेहरे अथवा आदमकद शरीर का चित्रण

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखें भाग 17.2
2) देखें उप-भाग 17.2.1
3) देखें उप-भाग 17.2.1

बोध प्रश्न-2

1) (i) ✓ (ii) × (iii) ×
2) देखें उप-भाग 17.2.2
3) देखें उप-भाग 17.2.2; (i) विशाल क्षेत्रों को घेरने की अयोग्यता के कारण; (ii) वे शुंडाकार हैं; (iii) वे कंकड़ों और प्लास्टर का प्रयोग करते थे।
4) देखें उप-भाग 17.2.2
5) देखें उप-भाग 17.2.3

बोध प्रश्न-3

1) (i) घ (ii) क (iii) ख (iv) ग
2) देखें उप-भाग 17.3.1

3) (i) × (ii) ✓ (iii) ✓ और (iv) ×
4) देखें उप-भाग 17.3.3
5) देखें उप-भाग 17.3.3

बोध प्रश्न-4

1) (i) ✓ (ii) ✓ (iii) × (iv) × और (v) ✓
2) देखें उप-भाग 17.3.4
3) देखें उप-भाग 17.3.5
4) देखें उप-भाग 17.3.5

बोध प्रश्न-5

1) देखें उप-भाग 17.4.1
2) देखें उप-भाग 17.4.2
3) देखें उप-भाग 17.4.3

बोध प्रश्न-6

1) देखें उप-भाग 17.5.2
2) देखें उप-भाग 17.5.3
3) देखें उप-भाग 17.5.3

बोध प्रश्न-7

1) देखें उप-भाग 17.5.4
2) देखें उप-भाग 17.5.6
3) देखें उप-भाग 17.5.6

17.9 संदर्भ ग्रंथ

बीच, माइलो क्लीवलैंड, (1992) *मुगल एंड राजपूत पेंटिंग्स* (कैम्ब्रिजः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

ब्राउन, पर्सी, (1942) *इंडियन आर्किटेक्चरः इस्लामिक पीरियड* (बॉम्बेः डीबी तारापोरेवाला एंड कंपनी).

ब्राउन, पर्सी, (1932) *इंडियन पेंटिंग* (नई दिल्लीः एसोसिएशन प्रेस).

डिग्बी, साइमन, (1967) 'द लिटरेरी एविडेंस फॉर पेंटिंग इन द दिल्ली सल्तनत', *बुलेटिन ऑफ द अमेरिकन एकेडमी ऑफ बनारस,* भाग I, पृ. 47-58.

मिशेल, जॉर्ज, (संपा.) (1978) *आर्किटेक्चर ऑफ द इस्लामिक वर्ल्ड* (लंदन).

नाथ, आर., (1978) *हिस्ट्री ऑफ सल्तनत आर्किटेक्चर* (नई दिल्लीः अभिनव पब्लिकेशंस).

कैसर, ए. जान., (1982) *इंडियन रेस्पांस टू यूरोपियन टेक्नालॉजी एंड कल्चर* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

कैसर, ए. जान. और सोम प्रकाश वर्मा, (संपा.) (1993) *आर्ट एंड कल्चर* (जयपुर).

वर्मा, सोम प्रकाश, (1978) *आर्ट एंड मैटेरियल कल्चर इन द पेंटिंग्स ऑफ अकबर्स कोर्ट* (नई दिल्लीः विकास पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड).

17.10 शैक्षणिक वीडियो

आर्किटेक्चर ऑफ द दिल्ली सल्तनत। सी ई सी यू जी सी
https://www.youtube.com/watch?v=cv2kz6UaB5E

मुगल पेंटिंग्स। सी ई सी यू जी सी
https://www.youtube.com/watch?v=2DEalF4Nr1o&list=PLAPZM4wTDYedUlslZfqTwjRFstp_KjYX2&index=38

टॉकिंग हिस्ट्री ।14। न्यूदिल्लीः द कैपिटल सिटी। राज्यसभा टी वी
https://www.youtube.com/watch?v=axD6pVOWzD4

इकाई 18 महिलाएँ और लैंगिक स्थिति*

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 दिल्ली सल्तनत के काल में महिलाएँ और लैंगिक स्थिति

18.3 महिलाएँ और राजनैतिक सत्ता

- 18.3.1 रज़िया सुल्तान
- 18.3.2 नायका देवी और रूद्रमा देवी

18.4 मुगल *हरम* और महिलाओं की स्थिति

18.5 मुगलकाल की प्रभावशाली महिलाएँ

- 18.5.1 नूरजहाँ
- 18.5.2 चाँदबीबी
- 18.5.3 उमाबाई दाभाड़े
- 18.5.4 मीरा बाई
- 18.5.5 मध्यकालीन बंगाल में महिलाएँ

18.6 सारांश

18.7 शब्दावली

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.9 संदर्भ ग्रन्थ

18.10 शैक्षणिक वीडियो

18.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम मध्यकालीन भारत में लगभग 1206-1750 के बीच की समयावधि में महिलाओं और उनकी स्थिति के बारे में चर्चा करेंगे। इस अवधि के दौरान, भारत में मुख्य रूप से दो प्रमुख राजवशों – दिल्ली सल्तनत और मुगलों – का शासन था, साथ ही कई देशी राज्यों का अस्तित्व था। इस इकाई का उद्देश्य महिलाओं और उनकी गाथाओं को इस अवधि को समझने के लिए एक सुविधाजनक स्थान पर रखा गया है क्योंकि भारतीय अतीत की कहानी काफी हद तक पुरुषों द्वारा रची गई है और इसके कारण शायद यह आसानी से ध्यान दिया जा सकता है कि लिखित इतिहास का अधिकांश भाग 'उसकी कहानी' – पुरुषों की कहानी, उनके कारनामों और उनकी भूमिकाओं के इर्द-गिर्द घूमता है और वही इसका केन्द्र-बिन्दु है। इस पुरूष-प्रधान कथा में, महिलाओं के जीवन और कार्यों पर काफी हद तक ध्यान नहीं दिया गया है। हालांकि, हाल ही में अनेक इतिहासकार महिलाओं की भूमिका का खुलासा करने के प्रयास के साथ अतीत का पुनर्मूल्यांकन कर रहे हैं, और उनकी कथाओं के माध्यम से यह आश्चर्य की बात है कि अनेक महिलाओं की उपस्थिति दर्ज की गई है जो उस युग में सक्रिय रूप से शामिल थी लेकिन जिन्हें अब तक ऐतिहासिक रचनाओं में नजरअंदाज किया गया था। ऐसी महिलाओं और उनकी कहानियों के बारे में जानना महत्वपूर्ण है, न केवल उस युग में महिलाओं की स्थिति को समझने के लिए बल्कि 13वीं से 18वीं शताब्दी तक भारतीय समाज के विकास पर एक सूक्ष्म दृष्टि पाने के लिए भी।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- मध्यकालीन भारत में लिंग की अवधारणा और लिंग-सम्बन्धों की प्रकृति को स्पष्ट कर सकेंगे,

*डॉ. प्रियंका खन्ना, जी. डी. गोयनका यूनिवर्सिटी, हरियाणा

- भारत में मध्यकाल के दौरान महिलाओं की स्थिति का वर्णन कर पायेंगे,
- इस अवधि के दौरान **पितृ-सत्ता** की संरचना और राजनैतिक और घरेलू स्थानों के प्रतिछेदन पर चर्चा कर पायेंगे, और
- हमारी अध्ययन अवधि के दौरान महिलाओं द्वारा निभाई गई विभिन्न भूमिकाओं का वर्णन कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

भारत में मध्यकाल के दौरान अर्थात् लगभग 13वीं से 18वीं शताब्दी में, सामान्य स्तर पर, **लिंग** (**gender**) संबंध जटिल और असमान थे। जबकि अधिकांश लोग या तो पुरुष या महिला पैदा होते हैं जो उनके यौन अभिविन्यास को विलक्षित करता है, वहीं लिंग महिलाओं और पुरुषों के समूहों के बीच के मापदंडों, भूमिकाओं और सम्बन्धों को दर्शाता है। यह एक सामाजिक संरचना है जो विभिन्न समाजों में और अलग-अलग समय में भिन्न होता है और यह परिभाषित करता है कि लोगों को परिवारों, समुदायों और सार्वजनिक स्थलों के भीतर समान या विपरीत लिंग के अन्य लोगों के साथ कैसे बर्ताव करना चाहिए। हालाँकि, इस इकाई में भारतीय इतिहास के मध्यकाल के दौरान पुरुषों और महिलाओं के बीच की स्थिति और पारस्परिक संबंधों पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है।

इस अवधि के दौरान, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा कैसे गौण थी और ज्यादातर समय में महिलाएँ कैसे उत्पीड़ित और अधीनस्थ थीं, इस पर ध्यान केन्द्रित रहेगा। इस दमन का मूल स्त्रोत स्त्री और पुरुष के शारीरिक भेदों पर जिस प्रकार महत्व देता है उसको रेखांकित किया गया है। महिलाओं की प्रजनन क्षमता और रक्त और वंश की वाहक होने के कारण, महिलाओं और उनके शरीरों को सामुदायिक पहचान के चिन्ह के रूप में समझा जाता था और उन्हें अक्सर पुरुष सम्मान को बनाए रखने के लिए प्रतीकात्मक वस्तुओं के रूप में देखा जाता था।

इस दृष्टिकोण से, सार्वजनिक स्थानों पर महिलाओं के मुक्त आवागमन को प्रतिबंधित कर दिया गया, और उन्हें सार्वजनिक रूप से एक पर्दा/घूघंट रखने की आवश्यकता पड़ती थी। इसने सभ्रांत घरों में महिलाओं के लिए समर्पित और संरक्षित स्थानों का निर्माण भी किया। महिलाओं को, विशेष रूप से कुलीन घरों में **बहु-विवाह**, जिसमें पुरुषों की कई पत्नियाँ होती थीं, इस स्थिति में भी स्वयं को अनुकूलित करना पड़ता था। इसके अलावा, *सती* और *जौहर* के रूप में आत्मदाह, कन्या-भ्रूण हत्या, और विवाह, संपत्ति के अधिकारों आदि पर कानूनी भेद-भाव, इन सभी ने इस अवधि के दौरान महिलाओं की अधीनस्थ स्थिति में योगदान दिया।

जाति एक अन्य धुरी थी जिसने पुरुषों और महिलाओं के बीच सामाजिक असमानता को बढ़ाया और पुरुष का 'अन्य' जाति की महिलाओं पर नियन्त्रण एक प्रमुख साधन था, जिसके माध्यम से उच्च कुल और निम्न कुल में जन्म के बीच पदानुक्रम बनाये रखा जाता था। उदाहरण के लिए, मुगलों ने अपनी सामाजिक श्रेष्ठता बनाए रखने की ज्ञात प्रक्रिया अपनाई जिसमें राजपूतों के साथ एक तरफा विवाह सम्बन्ध बनाए गए जिसमें उन्होंने राजपूत महिलाओं से विवाह तो किए, लेकिन विवाह के लिए राजपूतों को अपने रक्त संबंधियों से संबद्ध महिलाएँ नहीं दीं। इसी प्रकार, सामाजिक रूप से हीन जातियों की महिलाओं को अधीनस्थ सेवार्थ कुलीन घरों में शामिल किया जाता था, ताकि कुलीन घरों में महिलाओं का सामाजिक पदानुक्रम बनाए रखा जा सके।

इस तरह की अधीनता ने महिलाओं को अपने प्रभाव (**एजेंसी**; **agency**) का उपयोग करने से प्रतिबंधित नहीं किया और जैसा कि आप इस इकाई में आगे पढ़ेंगे, कई महिलाओं ने इस अवधि के दौरान उल्लेखनीय कार्य किये। दुर्भाग्यवश, महिलाओं को अभी तक इतिहास लेखन में अपना उचित स्थान नहीं मिला है और ऐसा इसलिए है क्योंकि उनकी कहानियाँ प्राथमिक स्रोतों में केवल हाशिए पर ही हैं। प्राथमिक दस्तावेजों में उनकी अपेक्षाकृत कम उपस्थिति का एक महत्वपूर्ण कारण इस तथ्य में निहित है कि ये अधिकांश पुरुषों द्वारा लिखे गए थे और पुरुष श्रेष्ठता का निर्माण करने के तरीकों में से एक तरीका अन्य प्रमुख लिंग – महिलाओं – के कार्यों

को चुप्पी में रखना, उन्हें नजरअंदाज करना और उनके क्रिया-कलापों को हाशिए पर रखना था[1]। हालाँकि उनके स्वभाव के विरूद्ध पारंपरिक स्त्रोतों को फिर से पढ़कर, महिलाओं द्वारा दी गई गैर-मामूली जानकारी को समझकर, महिलाओं द्वारा रचित सीमित स्त्रोतों को दुबारा प्राप्त करके और वास्तुशिल्प संरचनाओं, पेन्टिंग, साहित्यिक और औषधीय ग्रन्थों जैसे स्त्रोतों से प्राप्त अन्तर्दृष्टि की तुलना करके, कई इतिहासकार धीरे-धीरे मध्यकालीन भारतीय गाथा में उनके जीवन-जगत का प्रतिनिधित्व करने में मदद कर रहे हैं।

18.2 दिल्ली सल्तनत के काल में महिलाएँ और लैंगिक स्थिति

जैसा कि आपने पिछली इकाइयों में पढ़ा कि दिल्ली सल्तनत, दिल्ली में स्थित एक इस्लामी साम्राज्य था जो भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े हिस्से में फैला था। सल्तनत पर पाँच राजवशों द्वारा क्रमित रूप से शासन किया गया था – मामलुक वंश, खलजी वंश, तुगलक वंश, सैय्यद वंश और लोदी वंश। 300 से अधिक वर्षो के उनके शासन में, जिसके प्रमुख मुस्लिम और स्थानीय हिन्दु राज्यों से महत्वपूर्ण स्त्रोत प्राप्त हुए हैं लेकिन इनमें महिलाओं के बारे में जानकारी बहुत कम है। राजनैतिक मामलों में एक स्पष्ट प्रधानता के साथ-साथ, इस अवधि के स्त्रोत तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की जो तस्वीर पेश करते हैं, उनमें महिलाओं की स्थिति की समझ पेश की गई हैं।

सल्तनतकालीन भारत में तुर्क अपने पूर्वजों की खाना-बदोश परंपराएँ लेकर आए, जो मध्य एशिया की चरागाह भूमियों पर जगह-जगह घूमते थे। सल्तनत के तहत ऐसा प्रतीत होता है कि तुर्की महिलाएं कई देशी समुदायों की महिलाओं की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक आज़ाद थीं। यह हम इसलिए कह रहे हैं क्योंकि अधिकांश स्थानीय समुदायों में महिलाएँ कई प्रकार की सामाजिक निषेधाज्ञाओं से ग्रस्त थीं, जिसके बारे में आप इस उपभाग को पढ़ने के दौरान जानेंगे। हालांकि बहु-विवाह की संस्था खासकर कुलीन और अभिजात्य परिवारों के सदस्यों में व्यापक रूप से प्रचलित थी। पत्नियों के अलावा इस समय के बहु-विवाह वाले परिवारों में एक आदमी की कई उप-पत्नियाँ शामिल होती थी जिन्हें यौन-सहयोगी माना जाता था लेकिन उन पर विवाह के कानूनी प्रतिबन्ध नहीं थे। उप-पत्नियाँ आमतौर पर मध्यम या निम्न समुदायों से आती थीं और जिन स्त्रियों को यह स्थिति दी जाती थी उनको कई अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था, जिनमें उनके पुत्रों के लिए राजसिंहासन के लिए प्रतियोगी होने का अधिकार भी सम्मिलित था। शासक और अधिकांश धनी परिवारों में धाय और दासी जैसी महिला सदस्य भी शामिल थीं।

इस दौरान भारत में आने वाले मोरक्को के एक यात्री इब्न बतूता ने अपने यात्रा वृत्रांत में हमें बताया है कि भारत में सुल्तानों के अधीन महिला गुलामी एक प्रचलित संस्था थी। दास लड़कियों को युद्धों में, उपहार के रूप में या खरीद कर प्राप्त किया जाता था। एक बार जब एक लड़की गुलामी के अन्तर्गत आ जाती थी तब उसके परिवार से संबंध टूट जाते थे और वह अपने स्वामी की अनन्य संपत्ति बन जाती थी। महिला दास दो प्रकार की थीं, घरेलू और चाकरी के अन्य कार्यों के लिए रखी गई और अन्य जिन्हें उनके स्वामियों के साहचर्य के लिए उप-पत्नियों के रूप में विभिन्न रूपों में लाया जाता था। उप-पत्नियाँ शासक के साथ उनकी आत्मीयता के आधार पर अपेक्षाकृत उच्च स्थिति में और कभी-कभी परिवार में भी वर्चस्व की स्थिति में भी रहती थीं। घरेलू दासियाँ शिक्षा और कौशल के अभाव में कठोर घरेलू काम में लगाई जाती थीं और अपने सम्राट के लिए जासूस के रूप में भी काम करती थीं। प्रारंम्भिक मध्यकाल के गुजरात के *लेखापद्धति* दस्तावेज हमें सूचित करते हैं कि महिला दासियों के लिए घरेलू कामों में आमतौर पर पीसना, काटना, फर्श को साफ करना, फर्श पर झाड़ू लगाना, पानी लाना, मवेशियों का दूध निकालना और कृषि कार्य, आदि होते थे।

महिलाएं मनोरंजन कार्यकत्ताओं के रूप में एक अन्य श्रेणी थीं जो इस अवधि में कुलीन परिवारों का एक हिस्सा थीं। दिल्ली के सुल्तान, भारतीय शासकों के रूप में, कुछ अपवादों को छोड़कर,

---

[1]उदाहरण के लिए, ज़ियाउद्दीन बरनी (13वीं और 14वीं सदी के दरबारी इतिहासकार और एक राजनैतिक सिद्धान्तकार) ने इतिहास को विशेष रूप से धर्म के महापुरुषों और राज्य के संदर्भ में देखा, जिसमें महिलाओं का कोई स्थान नहीं था (करूणा शर्मा, 'ए विजिट टू मुगल हरम लाइव्स ऑफ रॉयल विमेन', *साउथ एशियाः जर्नल आफ साउथ एशियन स्टडीज,* भाग XXXII नं. 2, अगस्त 2009ः 155-169)।

संगीत के महान् प्रेमी थे। इब्न बतूता के अनुसार, अलाउद्दीन खलजी (1296-1316) के काल में दौरान संगीतकार और गायकों को हौज़-ए खास (सुल्तान अलाउद्दीन द्वारा निर्मित झील) के किनारे स्थित ताराबाबाद (खुशी का शहर) में बसाया गया था। प्रसिद्ध मनोरंजन कर्त्ताओं को खरीदना और उपहार में देना राजसी सत्ता की एक प्रमुख परंपरा थी। अक्सर युवा दासों को अभिजात्य घरों में नृत्य और गायन की कला में पेशेवरों द्वारा प्रशिक्षित किया जाता था। मनोरंजन करने वाले निजी और सार्वजनिक अनुष्ठानों और उत्सवों में प्रदर्शन करते थे और नृत्यिकाओं और गायिकाओं की उपस्थिति इस अवधि के दौरान शाही दरबारों की महिमा का प्रतीक बन गई। हालांकि, संगीतकला का प्रदर्शन करने वाली महिला के साथ एक स्पष्ट चिन्ता जुड़ी हुई थी। यह इस तथ्य से पता चलता है कि प्रसिद्ध मध्यकालीन कवि अमीर खुसरो ने अपने लेखन में व्यक्त किया कि गायन और नृत्य एक महिला के जीवन के शुरुआती चरण में अच्छा और मनोरंजक था, लेकिन उन्होंने महिलाओं को चेतावनी दी कि वे इसे संरक्षण न दें क्योंकि इससे बदनामी मिल सकती थी। शासक हिन्दू परिवारों में उसी चिन्ता का विस्तार प्रचलित था, जहाँ शासक या उच्च जातियों की महिलाओं के नृत्य और गायन कला सीखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता था क्योंकि इसे कुलीन व्यवहार के खिलाफ समझा जाता था और केवल दोयम जाति और समुदायों से आने वाली महिलाओं के लिए इसे उपयुक्त माना गया।

इसके अतिरिक्त बादशाह से जुड़ी महिलाओं का बड़ा समूह जिसमें उसकी माँ, बहनें और बेटियाँ शामिल थी, उन्हें सामूहिक रूप से सत्तारूढ़ मुस्लिम परिवार में *हरम* शब्द से संदर्भित किया जाता था। '*हरम*' शब्द अरब मूल का है जिसका अर्थ 'पवित्र' है और सल्तनत काल के दौरान इस शब्द का अर्थ समग्र राजकीय महिलाओं से था। *जनाना* शब्द, जो *जनानी* (स्त्री) से लिया गया था, एक हिन्दू प्रतिरूप था जिसे राजपूतों के देशी अभिजात्य परिवारों में महिलाओं के समूह के लिए संदर्भित किया जाता था। हिन्दू परिवारों ने पत्नियों और अन्य महिलाओं के बीच, जो अन्तरंग रूप से उनसे जुड़ी हुई थी, एक सख्त सीमा रेखा बनाए रखी, जबकि मुस्लिमों में निम्न दर्जे वाली महिलाओं जैसे कि महिला दासों को सामाजिक सीढ़ी पर चढ़ने से निषेध नहीं किया गया था। शाह तुरकान शमसुद्दीन इल्तुतमिश की पत्नी एक ऐसा उदाहरण हैं, जिसे गुलाम के रूप में खरीदा गया था, लेकिन जिसकी प्रतिष्ठा इल्तुतमिश (1211-36) की मुख्य रानी के रूप में हो गयी थी। 13वीं शताब्दी के फारसी इतिहासकार मिन्हाज सिराज ने इस सफलता का श्रेय उनकी योग्यता और आकर्षण को दिया[2]। दासत्व मुक्ति मुस्लिम परिवारों में एक प्रचलित परंपरा थी, जिसमें दासों को परोपकार के कार्य के रूप में स्वतन्त्र किया जाता था। हालाँकि सभी गुलाम लड़कियों को दासत्व मुक्ति या ओहदे में वृद्धि प्राप्त नहीं हो सकती थी, और अक्सर अभिजात्य घरों में वे सभी प्रकार के भेद-भावों के अधीन थीं।

अन्य सामाजिक बुराइयों ने भी महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया। इनमें *सती* और *जौहर* के माध्यम से महिलाओं द्वारा आत्मदाह करना प्रमुख था। आत्मदाह का कार्य महिलाओं द्वारा पति या स्वामी के शव के साथ और इसके बिना भी किया जाता था[3]। हालाँकि यह एक हिन्दू रिवाज था, लेकिन अमीर खुसरो जैसे मुस्लिम इतिवृत्तकारों ने इस तरह की प्रथाओं पर अचम्भा और आश्चर्य व्यक्त किया। इस सामाजिक प्रथा में बुराई की सीमा के बारे में स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, लेकिन यह तथ्य कि इब्न बतूता उस स्थान पर बेहोश हो गया था जहाँ एक महिला *सती* हो रही थी, यह उसी की तरफ संकेत है।

स्त्रोतों के अनुसार विधवाओं पर *सती* कोई बाध्यता नहीं थी क्योंकि विधवा-पुनर्विवाह, उच्च वर्ग के हिन्दुओं को छोड़कर, काफी हद तक प्रचलित और स्वीकार्य था। मुहम्मद बिन तुगलक (1325-1351) ने इस बात पर बल दिया कि विधवाओं को *सती* होने से पहले शाही सत्ता की सहमति लेनी चाहिए। बलबन के शासनकाल (1266-87) से पहले जिन पुरूषों को उनके रखरखाव

---

[2]अधिक जानकारी के लिए मोहम्मद वाहिद मिर्जा (1974), *द लाइफ एन्ड वर्क्स ऑफ अमीर खुसरो* (देहलीः इदाराह ए अदबियात-ए देहली) पढ़ें।

[3]*जौहर* शब्द का इस्तेमाल महिलाओं द्वारा बड़े पैमाने पर आत्मदाह के लिए किया जाता है, यह जरूरी नहीं कि यह उनके पति या स्वामी की मृत्यु पर किया जाए, जबकि इसके विपरीत *सती* महिलाओं द्वारा उनके पति/स्वामी के अन्तिम संस्कार में किया जाता था।

के लिए राज्य से *इक्ते* (भू-अनुदान) मिले हुए थे, उनकी विधवाएँ अपने पतियों की मृत्यु के बाद उन्हें अपने पास रख सकती थीं। बलबन द्वारा इस प्रथा को बन्द कर दिया गया जिसने विधवाओं के पालन के लिए प्रदत्त भू-अनुदानों को एक निश्चित भत्ते के रूप में बदल दिया। विधवाओं को अन्य महिलाओं की तरह धार्मिक कर *जज़िया* देने से छूट थी। इन प्रावधानों के बावजूद, जो हालांकि न्यूनतम थे, 19वीं शताब्दी के शुरुआती दिनों तक और देशी राज्यों में स्पष्ट रूप से वंश की प्रतिष्ठा और शुद्धता के रूप में *सती* प्रथा जारी रही।

इस अवधि में महिला की पवित्रता के बारे में चिन्ता अमीर खुसरो द्वारा उल्लखित नैतिक संहिताओं में भी स्पष्ट है। उदाहरण के लिए, महिलाओं को अच्छे आचरण की सलाह देते हुए, खुसरों ने लिखा कि आँख सभी बुराई का मुख्य कारण थी और महिलाओं को अपनी नज़र नीचे रखनी चाहिए और उन्हें मोतियों की तरह संरक्षित करना चाहिए जो सीपियों में सुरक्षित रहते हैं। इसके अतिरिक्त वह महिलाओं को अनजान व्यक्तियों को घूरने, पुरुषों के साथ बातचीत से बचने और अकेले होने पर अपने पति को छोड़कर किसी के पास नहीं बैठने की सलाह देते हैं[4]। इसी तरह 14वीं सदी के बहमनी साम्राज्य के दरबारी कवि इसामी ने जोर देकर कहा कि महिला का स्थान घर था और उन्हें ताज पहनने की बजाए कताई और बुनाई में रुचि लेनी चाहिए[5]। खुसरो ने भी सूत-कताई को महिलाओं की प्रमुख गतिविधि माना। इस प्रकार दिल्ली सुल्तानों के काल में महिलाओं के घूमने-फिरने और आचरण पर एक चिंता उभर रही थी। निषेधाज्ञाओं के माध्यम से महिलाओं की सुरक्षा के नाम पर उनके स्थानों को सुरक्षित रूप से नियंत्रित करना एक सामान्य बात बन गई। फिरोज़ शाह तुगलक (1351-1388) ने भी महिलाओं की पवित्र स्थलों में जाने पर पाबन्दी लगा दी थी। इस तरह की पितृसत्तात्मक सीमाओं के बावजूद कई महिलाओं ने सल्तनत काल में उत्कृष्ट भूमिकाएँ निभाईं जिसका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित उपभागों में दिया जाएगा।

18.3 महिलाएँ और राजनैतिक सत्ता

इस अवधि के दौरान राजनीतिक और सार्वजनिक क्षेत्रों में भागीदारी पर काफी हद तक पुरुषों का प्रभुत्व रहा। फिर भी कई महिलाओं ने न केवल राजनैतिक मामलों में अपने लिए एक प्रत्यक्ष स्थान बनाया, बल्कि कई ने **राज्य संरक्षक** (प्रतिनिधियों; **regent**) और शासकों के सलाहकार के रूप में एक महत्वपूर्ण राजनैतिक भूमिका निभाई। निम्नलिखित दो उप-भागों में हम उस समय की कुछ प्रमुख महिला राजनैतिक हस्तिओं के बारे में अध्ययन करेंगे।

18.3.1 रज़िया सुल्तान

तुर्की परम्पराओं ने महिलाओं को सिंहासन संभालने से प्रतिबंधित नहीं किया था। 12वीं शताब्दी में, खिताई[6] तुर्की महिलाओं ने कुछ रियासतों पर शासन किया। हालाँकि, जैसा कि इस अवधि के लेखन से स्पष्ट है, सल्तनतकाल में शासकीय कुलीन महिलाओं को राजनीति में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया था इसके बावजूद शाही घराने की महिलाओं ने कई तरीकों से राजनैतिक सत्ता में दखलअंदाजी की। इस क्षेत्र में सबसे प्रत्यक्ष और प्रसिद्ध भूमिका रजिया सुल्तान (1236-1240) द्वारा निभाई गई थी।

दिल्ली सल्तनत के तीसरे शासक इल्तुतमिश के चार बच्चों में से रज़िया अकेली बेटी थी। उनकी माँ तुर्कान खातून दिल्ली सल्तनत के पहले शासक कुतबुदीन ऐबक (1206-1210) की बेटी थी। इल्तुतमिश ने अपने सबसे सक्षम बेटे राजकुमार नसीरूद्दीन महमूद की मृत्यु के बाद रज़िया को अपना उत्तराधिकारी नामजद किया। विभिन्न स्त्रोत इस बात की पुष्टि करते हैं कि इल्तुतमिश ने रज़िया का चयन किया क्योंकि वह उसके जीवित बच्चों में सबसे बड़ी थी और उसने पहले ही अपनी योग्य राजनीतिक अन्तर्दृष्टि प्रदर्शित कर दी थी। हालांकि, इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद,

[4]विस्तृत वर्णन के लिए अमीर खुसरो, *मतला-उल अनवर* (लखनऊः नवल किशोर), 1302 ए.एच. पढ़ें।

[5]मेहदी, आगा, (सं) (1976) इसामी, *द फुतुह-उस सलातीन*, अनुवादित आगा मेहदी, भाग 1 (आगराः एशिया पब्लिशिंग हाउस), पृ. 129 और 255.

[6]उदाहरणों में अलेप्पो (सीरिया) की सफिया खातून और मिस्त्र की शजर अल-दुर्र शामिल हैं।

उनके एक और पुत्र रूकनुद्दीन फिरोज़ ने सिहांसन पर कब्जा कर लिया, और यह उनकी माँ शाह तुर्कान द्वारा की गई सौदेबाजी के माध्यम से संभव हो पाया था। शाह तुर्कान की महत्वपूर्ण शक्ति के बावजूद सात महीने के भीतर रज़िया ने अपना अधिकारपूर्ण दावा प्राप्त कर लिया और नवम्बर 1236 सी ई में वह सिहांसन पर बैठी।

रज़िया सुल्तान दक्षिण एशिया की पहली महिला मुस्लिम शासक थी। वह तुर्की के सेल्जुक वंश से थी और दिल्ली सल्तनत की पाँचवीं ममलूक सुल्तान। रज़िया का सिंहासन पर पहुँचना पूरी तरह से उनकी योग्यता पर आधारित था और ऐसे राजनैतिक वातावरण में जहाँ सिंहासन को एक पुरुष का एकाधिकार माना जाता था यह एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिन्दु था। यह उस युग की राजनैतिक-सांस्कृतिक भावना का प्रमाण है कि मुस्लिम धर्म-शास्त्रियों ने उनके सिंहासनारोहण को मंजूरी दे दी और अधिकांश तुर्की कुलीन वर्ग, सेना और दिल्ली के लोगों ने उनकी राजगद्दी को स्वीकारा। साथ ही अनेक लोग एक महिला शासक के विचार के साथ सामजंस्य नहीं बना सके। उदाहरण के लिए, सुल्तान नसीरूद्दीन महमूद के एक प्रतिष्ठित वकील और *काज़ी* (न्यायाधीश) मिन्हाज-ए सिराज रज़िया के सिंहासनारोहण के 20 से अधिक वर्षों के बाद अपनी रचना *तबकात-ए नासिरी* में पछतावे के साथ लिखते हैं कि रज़िया अपने सभी प्रख्यात गुणों के साथ एक सम्प्रभु के लिए योग्य सभी गुण सम्पन्न थीं परन्तु एक आदमी के रूप में पैदा नहीं हुई थीं (*तबकात-ए नासिरी* भाग-1, पृ. 458-459)। इसामी भी इस विचार का समर्थन करते हैं। ऐसे कथनों में आप देख सकते हैं कि लैंगिक भूमिकाओं के संदर्भ में प्रचलित रवैया कैसा था क्योंकि किसी ने भी रज़िया की क्षमता पर सवाल नहीं उठाया, लेकिन नाराज़गी एक महिला शासक के खिलाफ थी क्योंकि सम्प्रभुता के मामलों को अनन्य रूप से पुरूष का एकाधिकार माना जाता था[7]। इसके अलावा प्रान्तीय गर्वनर, जो तुर्की शासक वर्ग के एक शक्तिशाली वर्ग का गठन करते थे, उनकी रज़िया के चयन में कोई राय नहीं ली गई थी अतः उन्होंने स्वयं को अनदेखा महसूस किया और रज़िया के शासन करने में आपत्ति जताई। एक बार सिहांसन पर बैठने के बाद, रज़िया ने अपने विरुद्ध विरोधों को सावधानी से, कुछ अधिकारियों को हटाकर या बदलकर, निपटाया और अपने प्रशासन को लगभग चार साल चलाया।

रज़िया की ताकत का एक महत्वपूर्ण घटक दिल्ली के लोगों का समर्थन था, जिन्हें रज़िया ने एक प्रकार का वायदा किया था कि अगर वह उनकी समस्याओं को हल करने में असमर्थ रहेगी तो वह अपना सिहांसन छोड़ देगीं। अन्त तक, उसने बिना किसी भेदभाव के न्याय किया। उसने हर हफ्ते एक दरबार का आयोजन किया जिसमें पहले से चली आ रही महिला गार्ड और आवरण (screen) लगाने की व्यवस्था को खत्म कर दिया गया। अपने सिंहासनारोहण के तुरन्त बाद, रज़िया ने स्वयं पर्दा करना भी छोड़ दिया क्योंकि उसने महसूस किया कि प्रशासनिक मामलों को प्रभावी ढंग से संभालने के लिए यह एक बाधा थी। इसलिए उसने पारंपरिक महिला पोशाक को त्यागकर पुरूष वस्त्रों को अपनाया। उसका आधिकारिक नाम और एक जिससे अक्सर उनको इतिवृत्तों में उल्लेखित किया जाता है वह था *सुल्तान रज़त-अल दुनिया-वल दीन बिन्त अल-सुल्तान*। उसने इल्तुतमिश की शैली के सिक्कों के प्रकार जारी रखे और चाँदी, ताँबे और सोने के सिक्के जारी किये। अपने प्रशासनिक कौशल के अलावा, रज़िया एक कुशल कवयित्री थीं और उसने विद्वानों को प्रदान संरक्षण किया। दिल्ली का मदरसा-ए नसीरिया उनके शासन काल में शिक्षा का केन्द्र बन गया।

सैन्य मोर्चे पर, वह अपनी और अधिकांश कुलीन लोगों को अपनी ओर करने में सफल रहीं, लेकिन महत्वपूर्ण पदों के लिए गैर-तुर्कियों की नियुक्ति ने तुर्की कुलीनों के बीच द्वेष भर दिया जो उन्हें उखाड़ फेंकने के लिए षड़यन्त्र करने लगे। कुलीनों की शत्रुता तब और बढ़ गई जब रजिया ने एक अबीसीनियन गुलाम जमालुद्दीन याकूत को तुर्की कुलीनों की शक्ति रोकने के लिए *अमीर-ए आखुर* (घुड़सवार सेना का सेनापति) का पद दे दिया। इस नियुक्ति ने इसामी जैसे इतिवृत्तकारों को भी उद्वेलित कर दिया क्योंकि उनके लिए रज़िया और याकूत के बीच कथित अन्तरंगता इस प्रशासनिक निर्णय का कारण थी। समकालीन इतिहासकार मिन्हाज हालांकि इस अन्तरंगता के बारे

[7]उनके राजनीतिक कौशल की सल्तनत काल के मिन्हाज और फरिश्ता जैसे इतिवृत्तकारों ने सराहनीय रूप से मान्यता दी है।

में कुछ नहीं कहते हैं जो हमें उस युग में नैतिकता के मुद्दे पर विचार करने को मज़बूर करता है कि क्या यह किसी महिला के मुखर फैसलों पर सवाल उठाने का सबसे आसान तरीका है?

अप्रैल, 1240 में उनके प्रति शत्रुता के कारण, रज़िया को तबरहिंद के गर्वनर अल्तूनिया के विद्रोह का सामना करना पड़ा। विद्रोह को दबाने के लिए उसने विस्तृत इंतजाम किये, लेकिन भिड़न्त होने से पहले ही आधे रास्ते में ही उसकी सेना के तुर्की कुलीनों ने उसके खिलाफ विद्रोह कर दिया, जिससे उसकी हार हो गई। इस लड़ाई में याकूत मारा गया और रज़िया को पकड़ लिया गया और उन्हें तबरहिन्द के किले में भेज दिया गया। रज़िया के भाई बहराम शाह को कुलीनों की मदद से सिहांसन पर बैठने का अवसर मिला, जिन्होंने अल्तूनिया की सेवाओं को अनदेखा करते हुए महत्वपूर्ण पदों पर कब्जा करते हुए आपस में जीत का फल बाँट लिया। स्थिति का फायदा उठाते हुए, रज़िया ने अल्तूनिया को सान्तवना दी और अल्तूनिया ने उससे शादी की पेशकश की। विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक कदम, यह शादी उसके सिहांसन को पुनः प्राप्त करने का एकमात्र तरीका था और इसलिए वह इस प्रस्ताव पर सहमत हो गई। विवाह के बाद रज़िया ने अल्तूनिया के साथ खोखरों, जाटों, राजपूतों और कुछ तुर्की कुलीनों की एक सेना एकत्र की और सितम्बर, 1240 में उन्होंने दिल्ली की ओर मार्च किया। आगामी युद्ध में रज़िया की सेना को पराजय मिली और कैथल वापस लौटते समय वह और अल्तूनिया मारे गये।

बहुत बाद मे ंउसकी कब्र पर एक छोटा सा पवित्र स्थल खड़ा किया बताया जाता है लेकिन इसका स्थान ऐतिहासिक बहस का विषय बना हुआ हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार यह कैथल में है, जबकि अन्य कहते है कि यह दिल्ली में स्थित है।

रजिया की मृत्यु का इब्न बतूता द्वारा विस्तृत वर्णन

जब वह हार गईं और पीछे कैथल जा रही थीं, तो उसे भूख लगी और थकान ने उसे घेर लिया; उसने एक व्यक्ति से भोजन माँगा जो खेती में व्यस्त था। उसने एक रोटी का टुकड़ा दिया और वह सो गई। उसने पुरुष की तरह के कपड़े पहने हुए थे। जब वह सो रही थी तो किसान की नजर उसके सोने और मोतियों से जड़े *कूबा* पर पड़ी। यह भान होते हुए कि वह एक महिला है उसने उसकी हत्या कर दी और उसकी बहुमूल्य चीजें उतार लीं, घोड़े को भगा दिया और उसकी लाश को अपने खेत में गाड़ दिया। फिर वह उसके कुछ कपड़ों को बिक्री के लिए बाजार में ले गया। लेकिन व्यापारी को उस पर शक हो गया और *शाहना* (मजिस्ट्रेट) के सामने ले गया। किसान ने अपराध में अपनी भूमिका को स्वीकार कर लिया। उन्होंने रज़िया की लाश को खेत से बाहर निकाला, उसे धोया और कफन में लपेटकर उसे वहीं दफना दिया।

***द रेहला ऑफ इब्न बतूता*, मेहदी हुसैन द्वारा अनुवादित, पृष्ठ, 35**

अपने भयानक अन्त के बावजूद रज़िया भारत के इतिहास में नारी शक्ति के सबसे महत्वपूर्ण प्रतिरूपों में से एक बनी हुई हैं। उसका मुख्य गुण उसके निर्भीक मुखर निर्णयों में, सभी लोगों को एकीकृत करने और अपने युग और समय के पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर शासन करने की उनकी क्षमता में निहित है। मिन्हाज के अनुसार, 'रजिया इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों में सबसे योग्य थी' – इस कथन को शायद ही नकारा जा सकता है।

18.3.2 नायका देवी और रूद्रमा देवी

जहां रजिया ने दिल्ली सल्तनत की राजनैतिक संस्कृति में प्रत्यक्ष भूमिका निभाई, वहीं अन्य महिलाओं ने न केवल मुस्लिम बल्कि हिन्दू शाही परिवारों में भी इस काल के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण गुजरात के शासक मूलराज द्वितीय की माँ नायका देवी का है, जिन्होंने अपने पति की मृत्यु के बाद अपने नाबालिग बेटे के राज्य-संरक्षक के रूप में सक्रिय राजनैतिक भूमिका निभाई। उन्होंने मुहम्मद गौरी (1149-1206), गजना के गौर शासक को हराकर अपनी सराहनीय प्रशासनिक क्षमता का परिचय दिया। मुहम्मद गौरी ने 1178 में गुजरात की तरफ एक आक्रमणकारी अभियान शुरू किया और नायका देवी ने उनके खिलाफ अचानक आक्रमण माउंट आबू के पास कर विजय प्राप्त की। नायका देवी गोवा की रहने वाली थीं और उनकी जीत हिन्दु-मुस्लिम दोनों इतिवृत्तों में दर्ज है।

रूद्रमा देवी (1245-1289) द्वारा इसी तरह की क्षमताओं का प्रदर्शन किया गया था, जिन्हें दक्षिण भारत के दक्खन के पठार में काकतीय राजवंश से संबंधित योद्धा रानी के रूप में जाना जाता है।

रूद्रमा देवी को बहुत ही कम उम्र से शक्ति प्राप्त करने के लिए जाना जाता है, जिसकी शुरुआत 1259 में हुई थी जब उन्हें सयुंक्त रूप से अपने पिता राजा गणपति (1199-1262) के साथ शासन करने के लिए सह-संरक्षक के रूप में नियुक्त किया गया था। गणपति के कोई पुत्र नहीं था और उन्होंने अपनी बेटी को रूद्र देव का नाम दिया और औपचारिक रूप से उन्हें अपना पुरुष अधिकारी घोषित किया, यह छवि एक महिला सम्राट के खिलाफ प्रचलित रवैये के कारण बनाई गई थी। उसने इस छवि को रोकने के लिए कुछ नहीं किया और रज़िया की तरह पुरुष पोशाक पहनी। हालांकि उसने निद्दावोलू के राजकुमार वीरबद्र से शादी की थी, जिससे उसकी दो पुत्रियाँ भी थीं, लेकिन उनकी जल्द की मृत्यु हो गयी।

रूद्रमा के अपने पिता के साथ सह-शासन में पहले के कुछ वर्षों में पांड्यों के आक्रमण को देखा था जिसको सफलतापूर्वक पीछे धकेल दिया गया लेकिन इससे राज्य की स्थिति कमजोर हो गयी। इन विफलताओं के परिणामस्वरूप गणपति सार्वजनिक जीवन से हार गये और रूद्रमा को राज्य का पूर्ण नियन्त्रण दे दिया। इसके बाद 1269 में गणपति की मृत्यु हो गई और रूद्रमा को आधिकारिक रूप से काकतीय साम्राज्य के शासक के रूप में ताज पहनाया गया।

रजिया की तरह रूद्रमा को बहुत सारे पुरुष विरोधों के साथ संघर्ष करना पड़ा जिन्होंने एक महिला की सत्ता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, लेकिन वह भी इस तरह के विद्रोहों को कुचलने में सफल रहीं। आन्तरिक विद्रोहों से अपने राज्य को सुरक्षित करने के बाद, रूद्रमा ने अपने शेष शासन काल को बाहरी खतरों से बचाने में लगाया। काकतीय दक्षिण भारत की चार प्रमुख शक्तियों में से एक थे जो अक्सर एक दूसरे से द्वन्द्व करते रहते थे। 1268-1270 तक, यादव राजा महादेव ने काकतीयों पर निरंतर आक्रमण किया जिसका समापन काकतीय राजधानी ओरूगल्लू (अब वारगंल) की घेराबंदी में हुआ। अतः रूद्रमा ने भयंकर आक्रमण शुरू किए जो पन्द्रह दिनों तक चले और जिसकी परिणिती यादवों पर उसकी विजय के साथ हुई। बाद में उड़ियाओं के एक आक्रमण को भी रूद्रमा के सेनापतियों द्वारा हार का सामना करना पड़ा। अपने राज्य की सुरक्षा के लिए रूद्रमा ने ओरूगल्लू किले की संरचना में एक दूसरी दीवार और एक खंदक जोड़कर उसमें निवेश किया, जिसने भविष्य में कई घेराबंदियों के खिलाफ शहर की रक्षा की। वेनिश यात्री मार्को पोलो ने रूद्रमा के शासन काल के दौरान ओरूगल्लू का दौरा किया और उसे एक ऐसी विवेकशील महिला के रूप में वर्णित किया, जिसने न्याय और समभाव के साथ शासन किया।

1280 में रूद्रमा ने अपने नाती प्रताप रूद्र को राजमुकुट पहनाया क्योंकि वह बूढ़ी हो रही थीं और उसका स्वयं का कोई पुत्र नहीं था हालांकि राज्य को 1285 में एक कायस्थ सरदार अम्बादेव के नये खतरे का सामना करना पड़ा, जिसने काकतीय साम्राज्य को नष्ट करने के लिए पांड्यों और यादवों से गठबंधन कर लिया था। इस समय वृद्धावस्था के बावजूद रूद्रमा ने अपनी सेना का कार्यभार संभाला, लेकिन होने वाली लड़ाई में वे मारी गईं। बाद के वर्षों में काकतीय साम्राज्य का पतन हो गया लेकिन दक्षिण भारत में रूद्रमा की विरासत प्रसिद्ध है।

बोध प्रश्न-1

1) लिंग और लिंग-सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए मध्यकालीन भारत में महिलाओं की स्थिति की एक रूपरेखा तैयार कीजिए।

....

....

....

....

2) लिखित इतिहास में पुरुषों की प्रधानता के कारण स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

3) भारत में दिल्ली सल्तनत के शासन काल में महिलाओं की स्थिति के बारे में संक्षेप में बताइए।

....

....

....

....

4) दिल्ली सल्तनत में राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका का वर्णन और आकलन कीजिए।

....

....

....

....

18.4 मुगल *हरम* और महिलाओं की स्थिति

जैसा कि आपने पिछली इकाइयों में पढ़ा है कि 1526 में बाबर (1526-1530), तैमूर के प्रत्यक्ष वंशज और मध्य एशिया के एक विजेता, ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव रखी। मुगल साम्राज्य, जैसा कि आप पिछली इकाई में पढ़ चुके है, 1526-1858 तक अस्तित्व में रहा। बाबर, साथ ही साथ उसके बेटे हुमायूँ (1530-1540; 1555-56), के पास एक स्थिर शासन नहीं था। वास्तव में, उनके राज्यों का आकार उनके जीवन काल में घटता-बढ़ता रहा और यह हुमायूँ के बेटे अकबर (1556-1605) के शासन से पहले अधिक स्थिर नहीं हो पाया। मुगल साम्राज्य की प्रारंभिक भ्रमणशील प्रकृति के कारण, काफी लम्बे समय इतिहासकारों ने महिलाओं की स्थिति और *हरम* की उपेक्षा की और अक्सर जल्दबाजी में एक धारणा बनाई कि इस पर इस अवधि में सूचना का अभाव था। वास्तव में, महिलाओं के बारे में जानकारी प्रारंभिक मुगल शासन के दौरान गैर-मामूली है फिर भी स्त्रोतों के गहन शोध के द्वारा रूबी लाल जैसे इतिहासकारों ने इस अवधि में महिलाओं और उनकी स्थिति के बारे में महत्वपूर्ण पहलूओं को उजागर किया है।

बाबर ने कभी भी *हरम* की एक संस्थागत इकाई के रूप में चर्चा नहीं की और सल्तनत काल की तरह *हरम* का मतलब मुगल काल की शुरुआत में केवल महिलाओं से था। हुमायूँ के समय तक इस शब्द का अधिक बार प्रयोग किया जा रहा था, लेकिन यह अभी भी शाही महिलाओं को संदर्भित करता है, जिसे *हरमान-ए पादशाह* शब्द से जाना जाता था। इस प्रारंभिक मुगल युग में शाही महिलाओं का राजशाही के निर्माण में एक नियत स्थान था क्योंकि वे न केवल नए राजवंश की वाहक थीं, बल्कि उन्होंने नये सदस्यों का सामाजीकरण भी किया और शान्ति स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसा करने में, बुजुर्ग महिलाओं ने अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर एक ऊँचा स्थान हासिल किया। हुमायूँ ने विशेष रूप से, अक्सर अपने भाईयों के साथ सिंहासन के संघर्ष के दौरान अपनी वरिष्ठ महिला रिश्तेदारों से सलाह ली। *एहवाल-ए हुमायूँ बादशाह*, हुमायूँ की बहन गुलबदन बानो बेगम के संस्मरण, जिन्होंने अपने भतीजे अकबर के आग्रह पर बाबर और हुमायूँ के शासनकाल से अपनी यादों के आधार पर इतिवृत्त लिखा, इस संदर्भ में वे कई महिलाओं के नामों का जिक्र करती हैं।[8] गुलबदन का वर्णन हमें सूचित करता है कि शासक के सलाहकार के रूप में उनकी सक्रिय भूमिका के अलावा, वरिष्ठ महिलाओं ने युवा पीढ़ी के लिए विवाह की स्थापना के माध्यम से वंशानुगत सम्बन्ध बनाए। एक महिला पदानुक्रम की स्थापना भी विशेष रूप से गुलबदन के संस्मरण में दोहराई जाती है। इस अवधि के अन्य ग्रन्थों के साथ जिनसे पता चलता है कि इस तरह के पदानुक्रम न केवल महत्वपूर्ण मामलों में बल्कि इस तरह के साधारण मामलों, जैसे कि मुगल अभियानों के दौरान महिलाओं के लिए टेन्ट

[8]उदाहरण के लिए रूबी लाल की रचना *डोमेस्टीसिटी एन्ड पॉवर इन अर्ली मुगल वर्ल्ड* देखें।

के संगठन और घर की महिलाओं को उपहारों के वितरण, में भी महत्वपूर्ण थे। इस पदानुक्रम की सीमाओं के भीतर, पुरुषों और महिलाओं के हितों का स्पष्ट प्रतिच्छेदन इस अवधि के दौरान एक पृथक और स्वतंत्र घरेलू क्षेत्र की किसी भी अवधारणा को क्षीण करता है।

अपने पूर्ववर्तियों के विपरीत, अकबर भारत में एक दृढ़ मुगल साम्राज्य स्थापित करने में सक्षम रहा। उसकी सत्ता महान् पूर्वजों पर आश्रित नहीं थी, बल्कि उन्होंने दावा किया कि वह दिव्य आज्ञा पर आधारित था और इसलिए उन्हें एक अद्वितीय भव्यता का प्रदर्शन करने की आवश्यकता थी। इस उद्देश्य की पूर्ति उनके द्वारा अपने राज्य में शारीरिक भाव-भंगिमाओं और लिंग-संबंधों के माध्यम द्वारा स्थापित की गई थी। ऐसा तीन प्रयत्नों द्वारा किया गयाः पहला, अपने स्वयं के शरीर को अनुशासित करके जिसमें उनका यौन व्यवहार भी शामिल था जिसके माध्यम से उसने विषम-सामाजिक और पौरुष यौन नैतिक आचरण को लोकप्रिय बनाया और उस पर बल दिया। दूसरा, विभिन्न गतिविधियों और अनुष्ठानों के लिए पृथक स्थानों का सावधानीपूर्ण निर्माण करके। तीसरा, विवाह के नेटवर्क के माध्यम को एक सहायक के रूप में शाही शक्ति और नियन्त्रण को बढ़ाने के लिए। एक शानदार राजतन्त्र की स्थापना करने के इन प्रयासों में अकबर ने अपने परिवार की महिलाओं पर बहुत ध्यान दिया और उनके शासनकाल में *हरम* शाही दरबार की तरह ही एक संस्थागत स्थल बन गया। यह फतेहपुर सीकरी में एक राजधानी के निर्माण में व्यक्त हुआ, जिसमें विभिन्न श्रेणी के लोगों के लिए सावधानीपूर्वक स्थानिक विभाजन किए गये थे और जिसमें महिलाओं के लिए भी निर्दिष्ट और सीमांकित स्थान थे। शाही परिवार और उसकी महिलाओं की पवित्र छवि को बनाए रखने के लिए इस योजना को लागू किया गया था और इस योजना के तहत बड़े करीने से विभाजित स्थान *ख्वाजासरा* (किन्नरों) द्वारा संरक्षित किये गये थे जो पुंछत्वहरण (castrated) पुरूष थे और महिलाओं का यौन शौषण नहीं कर सकते थे लेकिन घरेलू काम करने में सक्षम थे। बादशाह के इस पवित्र प्रभामंडल के अनुसार अबुल फज़ल ने अकबर के *हरम* को *शबिस्तान-ए खास* या *शबिस्तान-ए इकबाल* का नाम दिया (जिसका शाब्दिक अर्थ है नींद और सपनों का सौभाग्यशाली स्थान)। *हरम* शब्द अब न केवल महिलाओं के लिए संदर्भित था बल्कि उन स्थानों को भी निरूपित करने के लिए किया गया, जहाँ उत्तराधिकारियों की माताओं के नाम को पूरी तरह विस्मरण करने के माध्यम से महिलाओं की अदृश्यता को प्राप्त किया जाता था। निजी आवास और उसके निवासियों को पत्रित्र बनाकर बादशाह ने अपनी प्रजा की पहुँच से परे करके खुद के लिए एक आभामंडल तैयार किया।

मुगलों के उदय ने देशी राज्यों में भी लिंग समीकरणों और महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया। जैसे ही मुगल एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे देशी शासकों ने उत्साह से उनके साथ प्रतिद्वंद्विता या सहयोग करने के लिए महिलाओं पर एक सख्त सर्तकता बरती। महिलाओं पर नियन्त्रण अब कई स्थानीय शासकों के लिए पौरूष शक्ति के प्रदर्शन का और परिवारों में महिलाओं की संख्या उस शक्ति का मात्र एक प्रदर्शन और माध्यम बन गया। अभिजात्य वर्ग के परिवारों ने इस प्रकार बढ़ते हुए, पदानुक्रमित और विविध जनाना प्रकोष्ठ बनाए जिनको मर्दाना महलों (पुरुषों के लिए आरक्षित हॉल) से सुरक्षित रूप से पृथक कर दिया गया था। मुगल परिवारों की तरह आमतौर पर यहां भी जनानों को किन्नरों, जिन्हें *खोजा* कहा जाता था, द्वारा संरक्षित किया जाता था। हालांकि यह अलगाव एकपक्षीय था क्योंकि महिलाएँ पुरुषों और अधिकांश राजनैतिक कार्यवाहियों को एक जाली के माध्यम से देख सकती थीं जो महिलाओं के स्थानों की रक्षा करती थी लेकिन, शाही घराने की महिलाओं को सार्वजनिक नजर से सुरक्षित रखा जाता था क्योंकि उनके शरीर को पुरुष और वंश सम्मान के स्थलों के रूप में देखा जाता था। आभिजात्य वर्ग के परिवारों के बीच, स्थानीय राज्य में अन्तर्विवाह[9] के माध्यम से वंश और रक्त सम्बन्धों पर बल दिया जाता था। प्रायः कुलीन जनों और आम और आदिवासी जनता के बीच बहुपत्नी, *पर्दा, सती, जौहर,* दहेज, स्त्रियों को बेचना और कन्या-भ्रूण हत्या जैसी सामाजिक बुराईयाँ प्रचलित थीं। इनमें से कई को रीति-रिवाज (सामाजिक प्रथाओं) के नाम पर अंजाम दिया गया और महिलाओं को कई मानवाधिकारों की पहुँच से वंचित रखा गया। हालांकि महिलाओं की भत्तों और भूमि अनुदानों के माध्यम से एक विनियमित आर्थिक स्वतन्त्रता तक पहुँच थी और अपनी बुद्धिमता के माध्यम से कई महिलाओं ने पितृसत्तात्मक सीमाओं के साथ समझौता किया।

[9]एक ही जाति या सामाजिक समुदाय के बीच होने वाले विवाह अन्तर्विवाह कहलाते हैं।

18.5 मुगल काल की प्रभावशाली महिलाएँ

जहाँ हरम की पृथकता के कारण शाही घरेलू क्षेत्र इसके अधीन हो गया, वहीं इसका मतलब यह नहीं है कि इस काल की महिलाएँ गतिहीन और एंकात में रहती थीं। वास्तव में नवम्बर 1575 में अकबर के शासन काल के दौरान मुगल महिलाओं के एक बड़े समूह ने मक्का और मदीना में प्रसिद्ध *हज* (तीर्थ) यात्रा की शुरुआत की जो सात वर्ष चली और जिसमें चार बार *हज* यात्राएं की गईं। चूंकि इससे राज्य की पवित्र छवि प्रदर्शित होती थी, सम्राट ने न केवल इस धार्मिक यात्रा के लिए अनुमति दी थी, बल्कि उन सभी की यात्रा के लिए अनुमति दी थी, जो जाने की इच्छा रखते थे। महिलाओं के इस समूह में युवा और बूढ़ी महिलाएँ शामिल थीं और इसे बुजुर्ग गुलबदन द्वारा आयोजित और नेतृत्व प्रदान किया गया था।

इस अवधि में महिलाओं ने राजनैतिक जीवन के विभिन्न बिन्दुओं पर एक केन्द्रीय भूमिका भी हासिल की। मुगल साम्राज्य में पहले की तरह उम्र और बुद्धिमता की प्रधानता बनी रही और वरिष्ठ महिलाओं को हिमायत के लिए तलाशा जाता था और उनकी सत्ता पर भरोसा किया जाता था। उदाहरण के लिए, 1581 में जब अकबर के सौतेले भाई मुहमम्द हाकिम मिर्जा, जो काबुल के गवर्नर के रूप में सेवारत थे, ने उनके खिलाफ विद्रोह कर दिया, तो अकबर ने विद्रोह को शान्त करने तक अपनी माँ और बहनों को मुगल प्रदेशों का भार सौंप दिया था। विद्रोह के बाद, अकबर की सौतेली बहन बख्त अल-निसा बेगम को काबुल के महत्वपूर्ण प्रान्त का आधिकारिक गर्वनर नियुक्त किया गया। युवा महिलाएँ भी सक्रिय राजनीतिक भागीदार थीं। वास्तव में, जहाँगीर (1605-1627), शाहजहाँ (1628-1658) और औरंगजेब (1658-1707) के शासन काल के दौरान विशेष रूप से सम्राटों की युवा पत्नियों, बेटियों और बहनों ने राजवंशीय राजनीति में हस्तक्षेप किया और उनका यह अधिकार शाही परिवार के सदस्यों के रूप में विधिवत स्वीकार किया गया। उदाहरण के लिए शाहजहाँ, ने अपनी पत्नी मुमताज महल की मृत्यु के बाद शाही परिवार चलाने के लिए अपनी 18 वर्षीय बेटी जहाँआरा पर बहुत भरोसा किया। जहाँआरा को 'पादशाह बेगम' कहा जाता था और उसके पास असाधारण सम्पत्ति थी जो उसने और उसकी माँ ने विदेशी व्यापारिक गतिविधियों के माध्यम से संचित किया था। विदेशी और आंतरिक दोनों तरह का व्यापार, इस अवधि में शाही घराने की कई महिलाओं द्वारा हासिल की गई संपत्ति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। नील और कढ़ाई किये वस्त्र जैसे उत्पाद उनके निर्यात का एक महत्वपूर्ण घटक थे। कई महिलाओं के पास समुद्री जहाज भी थे। उदाहरण के लिए, जहाँगीर की माँ मरियम-उस ज़मानी के पास रहीमी नामक एक जहाज था, जो उस काल में लाल सागर में व्यापार करने वाला सबसे बड़ा जहाज था।[10]

अपने संचित धन के माध्यम से कई महिलाओं ने देश के राजनीतिक भूगोल पर अपनी विरासत की स्थाई संरचनाएँ बनाईं। उदाहरण के लिए, जहाँआरा ने अपने धन का उपयोग दिल्ली के बाहर अपने पिता द्वारा बनाई गई नई राजधानी शाहजहाँनाबाद के परिदृश्य को बदलने के लिए किया। उनकी संरचनाओं में सबसे महत्वपूर्ण था चाँदनी चौक नाम का सुन्दर चौक और शहर की दीवारों के बाहर एक बाग जिसे तीस हजारी बाग का नाम दिया गया था।[11] जहाँआरा की छोटी बहन रोशनआरा ने भी शाहजहाँनाबाद की दीवारों के बाहर एक बाग का निर्माण किया जिसका नाम उनके नाम पर रोशनआरा बाग रखा गया और यह उनका अन्तिम विश्राम स्थल भी बन गया।

शाहजहाँ की पत्नियाँ भी इमारतों के निर्माण को प्रायोजित करने में शामिल थीं। उदाहरण के लिए, उनकी प्रिय पत्नी मुमताज महल की मृत्यु के बाद, शाहजहाँ की मुख्य पत्नी अकबराबादी बेगम थीं जिसको उन्होंने शाहजहाँनाबाद से कुछ दूरी पर उत्तर-पश्चिम में एक बाग भेंट किया था। इस बाग को बाग एज़्ज़ाबाद (अब शालीमार) बाग के नाम से जाना जाता है जिसमें अकबराबादी बेगम ने कारवाँ और यात्रियों की मदद के लिए एक *सराय* बनवाई थी। एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना जो बाद में बगीचे में हुई, वह 31 जुलाई, 1658 में औरंगज़ेब का राज्य-अभिषेक था। इसी

[10] 1614 में पुर्तगालियों द्वारा इस जहाज पर कब्जा करने से दोनों पक्षों के बीच युद्ध हुआ था।

[11] यह चौक कई दुकानों और कॉफी हाउस के साथ एक हलचल भरा सार्वजनिक और व्यवसायी स्थान था। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने चौक और उसके आसपास की इमारतों को ध्वस्त कर दिया।

तरह शाहजहाँ की एक और पत्नी फतेहपुरी बेगम ने फतेहपुरी मस्जिद का निर्माण कराया जो लाल-किले से जाने वाली सड़क के पश्चिमी छोर पर स्थित है। सरहिन्दी मस्जिद शहर की बाहरी दीवार के बाहर पश्चिम में, शाहजहाँ की एक और पत्नी सरहिन्दी बेगम द्वारा बनाई गई थी।

मुगल शाही महिलाओं की अगली पीढ़ी ने भी प्रायोजित निर्माण की परंपरा को जारी रखा। औरंगजेब की पत्नी, औरंगाबादी बेगम द्वारा दिल्ली के लाहौरी गेट के पास एक मस्जिद का निर्माण प्रायोजित दर्ज किया गया था। उसकी बहन ज़ीनत-उन निसा ने लाल किले के दक्षिण में एक भव्य मस्जिद का निर्माण अपने संरक्षण में किया। 1700 में निर्मित इस मस्जिद को ज़ीनत-उल मस्जिद कहा जाता था और आज यह घाटा मस्जिद के नाम से लोकप्रिय है। उसका मकबरा इस मस्जिद के उत्तर में बनाया गया था, जिसे 1857 के विद्रोह के बाद ध्वंस्त कर दिया गया था।

महिलाओं द्वारा इमारतों के निर्माण को प्रायोजित करने का एक महत्वपूर्ण कारण निजी संपत्ति को जमा करना था क्योंकि महिलाएँ अपने द्वारा प्रयोजित अचल संपत्तियों पर अधिकार रख सकती थीं। इस तरह के स्वामित्व और अपनी अचल संपत्ति को प्राप्त करने के अधिकार मुस्लिम और गैर-मुस्लिम परिवारों में थे। महिलाओं को अक्सर शाही आदेशों (*फरमानों*) और *जागीर* के रूप में भू-भाग के अनुदान के माध्यम से आर्थिक शक्ति प्राप्त होती थी जो उन्हें आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती थी। मुगल काल के दौरान, महिलाओं के पास अपने विशेष व्यक्तिगत अधिकार के साथ-साथ संपत्ति पर सामुहिक स्वामित्व भी था। उन्हें अपने भूमि के भू-भाग के अनुदान से कुछ भाग पट्टे पर देने और हस्तांतरित करने की अनुमति भी दी गई थी। महिलाओं के पास खुद के गहने और नकदी होना भी आम बात थी, जिसे अक्सर शादी और उपहारों के माध्यम से हासिल किया जाता था। लेकिन अभिजात्य वर्ग के हिन्दू परिवारों में इस तरह के स्वामित्व को सीमित किया गया था क्योंकि अक्सर चल संपत्ति, विशेष रूप से द्वितीय स्तर के महिला समूहों को, उनकी सेवाओं की समाप्ति के बाद राजा द्वारा जब्त कर लिया जाता था, चाहे वह महिला की मृत्यु के कारण हो या किसी अन्य वजह से। हालाँकि इस अवधि के कई दस्तावेजों से पता चलता है कि कुलीन वर्ग और आम परिवारों दोनों में महिलाएँ अपनी धन और संपत्ति का सक्रिय संज्ञान बनाए रखती थीं और ऐसे अधिकारों के लिए अक्सर कानूनी और शाही दरबारों में अपनी आवाज उठाती थीं।

इसके अतिरिक्त मुगल महिलाओं का प्रभुत्व (एजेंसी) कला और धर्म के संरक्षण में भी प्रमाणित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जहाँआरा अपने भाई द्वारा शिकोह के आग्रह पर, कादरी सूफी सिलसिलें में शामिल हो गई थीं और इस रुझान के भाग के रूप में, उन्होंने सूफी विचारों पर आधारित *रिसाला-ए साहिबिया* की रचना की और मुईन अल-दीन चिश्ती की जीवनी लिखी[12]। उसने मौलाना रूमी की *मसनवी* पर टिप्पणियों का संरक्षणत्व प्रदान करने के लिए अपने धन का उपयोग किया। जहाँआरा की तरह औरंगजेब की बेटी ज़ेब-उननिसा एक आध्यात्मिक प्रकृति और उच्च शिक्षित महिला थीं जो अरबी और फारसी में कुशल थीं और गद्य और पद्य दोनों में लिखती थीं। माना जाता है कि उन्होंने साहित्यिक नाम 'मक़फी' से कई कविताओं की रचना की थी। राजकुमारी एक कुशल सुलेखकारा थीं और उन्होंने कई लेखकों, कवियों, सुलेखकारों और विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया गया और उन्होने कई महत्वपूर्ण पुस्तकों और लेखों को अधिकृत किया। उनकी मृत्यु पर उन्हें तीस हजारी बाग में दफनाया गया था, जो उसे वशांगत रूप से जहाँनारा से प्राप्त हुआ था।

इन उल्लेखनीय महिलाओं की तरह शाही परिवार की अन्य महिलाएँ भी अच्छी तरह से शिक्षित थीं और अतुन मामा नामक महिला शिक्षकों को उन्हें आचरण और फारसी, अरबी, धर्मशास्त्र, इतिहास और शास्त्रीय साहित्य पढ़ाने के लिए नियुक्त किया गया था। कहा जाता है कि *हुमायूँनामा* लिखने वाली गुलबदन के पास एक विशाल पुस्तकालय था। हिन्दु अभिजात्य परिवारों में स्त्री-शिक्षा अक्षरों के मूल ज्ञान और धार्मिक शास्त्रों पर केन्द्रित थी, जो ब्राह्मणों द्वारा प्रदान की जाती थी।

इस अवलोकन के माध्यम से आप अब तक समझ गये होंगे कि मुगल घराने की महिलाएँ सक्रिय थीं और कईयों ने अपने लिए एक विशिष्ट स्थान बनाया था। यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य

[12]सूफी *सिलसिले* के प्रति उनके झुकाव के कारण उन्हें निज़ाम अल-दीन औलिया के पवित्र स्थान के प्रांगण में उनकी इच्छा के अनुसार दफनाया गया था।

यह है कि अपनी माताओं, पत्नियों और बहनों के अलावा, मुगल शासकों ने अपनी पालक या धाय माता के लिए विशेष सम्मान रखा, जिन्हें सम्राट के जन्म की माँ के समान अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त होते थे और उनके साथ अक्सर सौतेली माँ की तुलना में अधिक सम्मान का व्यवहार किया जाता था। उदाहरण के लिए, अकबर अपनी धाय या दूध-माँ, माहम अनगा से गहराई से जुड़े हुए थे और जब वह किशोर ही थे तो वह प्रभावी रूप से उनकी राज्य-संरक्षक थीं और अपने कठोर हाथों से नवोदित साम्राज्य पर शासन कर रही थीं। समान रूप से इस उप-भाग में वर्णित कई महिलाएं इस अवधि के दौरान मुगल घराने और स्थानीय राज्यों में विभिन्न तरीकों से पितृसत्तात्मक सत्ता को चुनौती देती हैं। आने वाले उप-भागों में उनमें से कुछ का विस्तार से वर्णन किया जायेगा।

18.5.1 नूरजहाँ

मुगल महिलाओं में सबसे प्रसिद्ध नूरजहाँ ने चौथे मुगल सम्राट जहाँगीर से एक 36 वर्षीय विधवा के रूप में, जिसकी एक बेटी थी, के साथ शादी की। उसके जहाँगीर से कोई बच्चे नहीं थे लेकिन जहांगीर ने उससे शादी के बाद कोई और शादी नहीं की और दरबार में अन्य सभी के मुकाबले उन्हें अपने साहचर्य की प्राथमिकता दी।

उन्होंने असाधारण राजनीतिक विलक्षणता प्रदर्शित की जिससे जल्द ही उन्होंने अपने पति का विश्वास अर्जित किया जिसने उसे सम्प्रभुता का अधिकार भी दिया। उन्हें शाही आदेश (*परवाना* और *हुक्म*) जारी करने का विशेष अधिकार था, जो आमतौर पर शाही राजकुमारियों के लिए आरक्षित होता था और साथ ही उसे *फरमानों* पर अपनी मोहर के साथ हस्ताक्षर करने का अधिकार था। उसके नाम के सिक्के भी चलाए गये और वह अपने दम पर सार्वजनिक सुनवाई भी कर सकती थीं। वह नियमित रूप से अपने पति के साथ शिकार पर जाती थीं जहाँ वह अपना निशानेबाजी कौशल को प्रदर्शित करने से भी पीछे नहीं हटती थीं। वास्तव में सभी शाही दरबार के सदस्यों में नूरजहाँ ही थीं जिन्होंने अपने निशानेबाजी के कौशल और राजनैतिक क्षमता के मिश्रण से 1626 में जहाँगीर को विद्रोही महाबत खान द्वारा पकड़ लिए जाने पर बचाया था।

अपने पति से अर्जित विशेष अधिकारों को और बढ़ाते हुए, नूरजहाँ ने अपने जहाजों के माध्यम से विदेशी व्यापार में निवेश किया और पुर्तगाली और डच व्यापारियों के साथ कारोबार किया। अंग्रेज व्यापारियों ने भी जहाँगीर के दरबार में व्यापार की अनुमति प्राप्त करने के लिए उनकी सुरक्षा और मदद माँगी। उन्होंने अपने संचित धन का उपयोग साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों से अपने लिए एक निजी महलों की श्रृंखला को प्रायोजित करने के लिए किया, जहाँ उन्होंने दावत और समारोह भी प्रायोजित करवाये। समकालीन इतिहासकारों ने उनके सक्रिय राजनैतिक जीवन पर चिंता व्यक्त की और यहाँ तक कि कुछ ने जहाँगीर पर यह भी आरोप लगाया कि उसने समस्त सत्ता उसके लिए त्याग दी थी। नूरजहाँ ने फिर भी अपने पति के सह-संम्प्रभु के रूप में अपनी कमान को सक्रिय रूप से दर्शाया और अपने हर कार्य में यह सुनिश्चित कर दिया कि उसका नाम सार्वजनिक स्मृति और इतिहास में स्थायी रूप से अंकित हो जाए।

18.5.2 चाँद बीबी

चाँद बीबी अहमदनगर की राजकुमारी थीं जिनका विवाह 1565 में विजयनगर के खिलाफ युद्ध की पूर्व संध्या पर बीजापुर के शासक अली आदिल शाह (1558-1579) से हुआ था। दोनों राज्यों के शासकीय सदस्यों के बीच विवाह एक राजनैतिक गठबंधन था, लेकिन यह चाँद बीबी को शक्ति की कमान संभालने से नहीं रोक पाया। चाँद बीबी एक ऐसे घर में पली-बढ़ी थीं जहाँ उसकी माँ ने उसके पिता के शासन के दौरान सत्ता पर काफी प्रभाव जमाया था। इस तरह वह दरबार की राजनीति में भी माहिर थीं और उसे कभी भी पृष्ठभूमि में नहीं धकेला जा सकता था। वह एक सितारवादक और पाँच भाषाओं में निपुण थीं। वह अक्सर अपने पति के साथ सैन्य अभियानों पर जाती थीं और अपनी राजनैतिक कुशाग्रता के कारण वह राज्य के मामलों में उसकी सलाह मानते थे।

1580 के आसपास अली की विवादस्पद हत्या ने चाँद बीबी को राजनैतिक मामलों में एक केन्द्रीय भूमिका प्रदान की। बिना पुत्र के और एक युवा भतीजे को सिंहासन पर बिठाने के साथ, उन्होंने

1580-1590 तक एक राज्य-संरक्षक के रूप में बीजापुर सल्तनत की देखभाल की। हालाँकि उनका शासन हमेशा कुलीन वर्ग के एक भाग के षड्यन्त्रों से भरा हुआ था और जल्द ही बीजापुर और उनकी जन्मस्थली अहमदनगर राज्यों के बीच प्रतिद्वन्द्विता फिर से शुरू हो गई। इस मोड़ पर उनकी वफादारी पर अक्सर सवाल उठाए जाते थे। चूंकि अब बीजापुर का वारिस युवा हो चुका था इसलिए उन्होंने अहमदनगर वापिस जाने का फैसला किया, जो उस दौर में राजनैतिक अराजकता से परिपूर्ण था।

एक शासक के बिना, अहमदनगर राज्य 1595 में मुगल हमले के कगार पर था। लेकिन चाँद बीबी ने 1595-1599 के बीच अपने जन्म स्थल राज्य पर सक्रिय नियंत्रण कर लिया और उन्होंने 17वीं शताब्दी की शुरुआत में मुगल सेना से अपने राज्य को बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनकी वीरता को मुगल सेना ने भी स्वीकारा था जिन्होंने उसे चाँद सुल्तान का लोकप्रिय खिताब दिया था। हालांकि वह अपने राज्य में गुटीय राजनीति को नहीं खदेड़ सकीं और शक्तिशाली कुलीन जनों की महत्वाकांक्षाओं ने मुगलों के साथ गुप्त गठबंधन का उन पर आरोप लगा उनकी हत्या कर दी। लेकिन उन्हें अपनी वीरता और प्रशासनिक क्षमताओं के लिए विशेष रूप से याद किया जाता है, विशेष रूप से मुगलों से लड़ने के लिए, सेना को लगातार प्रेरणा देने के लिए जो अन्ततः अहमदनगर पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

18.5.3 उमाबाई दाभाड़े

17वीं शताब्दी में दक्खन ने मराठों का उदय देखा। मराठों में कई योद्धा महिलाएँ थीं जो अपने पुरुषों की ओर से लड़ीं। उदाहरण के लिए, जीजाबाई और अहिल्याबाई होल्कर ने अपने राज्यों के हितों की रक्षा करने वाले सलाहकारों, राज्य संरक्षकों और योद्धाओं के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसी महिलाओं में उमा बाई दाभाड़े विशेष रूप से उल्लेखनीय थीं क्योंकि वह शासक परिवार से नहीं आती थीं। वह अभोनकर के देशमुख देवराव थोके की बेटी थीं। छोटी उम्र में ही उनका विवाह मराठा छत्रपति (सम्राट) शिवाजी के अंगरक्षक येशाजी के सबसे बड़े बेटे खांडेराव दाभाड़े से हुआ था। वह खांडेराव की तीसरी और सबसे छोटी पत्नी थीं, लेकिन पति की मृत्यु के बाद उनके सबसे बड़े बेटे त्रिम्बक राव ने सेनापति (सैन्य कमांडर) के रूप में कार्य भार संभाला लेकिन जल्द ही वह तत्कालीन पेशवा बाजीराव प्रथम के साथ *चौथ* कर के अधिकारों को लेकर संघर्ष में आ गए।

उमाबाई अपने सामुदायिक अधिकारों के खत्म होने का विरोध करने के लिए केन्द्र बिन्दु बन गईं और उन्होंने अपने बड़े बेटे की मृत्यु के बाद निडर होकर प्रतिरोध जारी रखा। उन्होंने पेशवा के खिलाफ अपनी प्राप्य राशि के लिए लड़ने के लिए मराठा रानी ताराबाई के साथ शक्ति जुटाई और ताराबाई और पेशवा के बीच युद्ध में उमाबाई और अन्य मराठा महिलाएँ मजबूत शक्ति के साथ रानी के पक्ष में जुटीं। लेकिन मुख्य रूप से उनकी अपने सैन्य कमांडर द्वारा छल किये जाने से महिला नेताओं की इस लड़ाई में हार हुई। लेकिन अपने प्रतिरोध में उमाबाई और अन्य महिलाओं ने अपनी राय, भागीदारी और चिंताओं को अपने समय के मामलों में स्वर दिया।

18.5.4 मीराबाई

अन्य क्षेत्रों की तरह धर्म का अनुसरण इस अवधि में महिलाओं के द्वारा आत्मकथन का एक शक्तिशाली रूप बन गया। मध्यकालीन भारत में वैष्णव और शैव धर्मों के प्रसार के साथ, कई महिलाओं ने पारिवारिक दबाव को नकार दिया और उन्होंने आध्यात्मिक यात्राओं को आरम्भ किया। अनेकों आध्यात्मिक पथ लिंग, जाति और धर्म के पदानुक्रम के बारे में अपनी राय को व्यक्त करने के लिए एक मंच था और यह उन्होंने देशी भाषा के उपयोग के साथ किया, जिसने उन्हें लोकप्रिय संस्कृति का एक अभिन्न अंग बना दिया। इस प्रक्रिया में साथ ही साथ उन्होंने धर्म की पुनः संकल्पना की और सामाजिक व्यवस्था में स्वयं के लिए एक जगह बना ली।

राजस्थान की मीराबाई, जिन्हें मीरा के रूप में जाना जाता है, सबसे प्रमुख महिला संत थीं जो एक मौलिक सन्त कवयित्री के रूप में उभरीं और उन्होंने भक्ति के मार्ग पर अपने कदम बढ़ाए। भक्ति एक धार्मिक आन्दोलन था जिसने इस यकीन को आगे बढ़ाया कि मुक्ति सभी के लिए प्राप्य थी। जैसा कि आपने **इकाई 16** में पढ़ा, भक्ति ने सभी रूढ़िवादी मान्यताओं को चुनौती दी, जातिगत भेदों के खिलाफ विद्रोह किया और ब्राह्मणवादी (उच्च जातीय आधारित) अनुष्ठानों की

अवहेलना करते हुए उन्हें मुक्ति की प्राप्ति के लिए अनावश्यक घोषित किया। भक्ति आन्दोलन ने कबीर, नामदेव, तुलसीदास, तुकाराम और बसवा जैसे कई पुरुष सन्त कवियों को जन्म दिया। इन्ही के समान इस अवधि में मीरा के अलावा अक्का महादेवी, जनाबाई और बहिनाबाई जैसी महिला भक्त भी हुईं।

महिला कवि सन्तों ने समाज में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योंकि उन्होंने धर्म में समानता के प्रश्न सहित विभिन्न क्षेत्रों में पितृसत्तात्मक सीमाओं के खिलाफ आवाज उठाई। मीराबाई जैसी महिलाएँ सामाजिक मानदंडों और मूल्यों को नकारने में असाधारण रूप से मौलिक थीं। ईश्वरीय प्रेम की सराहना करते हुए उन्होंने अपने परिवारों को पीछे छोड़ दिया। दूसरी अन्य महिला भक्ति-संतों ने पत्नियों और माताओं की अपनी जिम्मेदारी निभाते हुए आध्यात्मिकता के लक्ष्य को पाने का प्रयत्न किया। हालांकि, सभी ने ऐसी कविताएँ लिखीं या गाईं जिन्होंने लिंग के मापदंडों की धारणा को चुनौती दी।

मीराबाई को दुनिया की सबसे प्रसिद्ध भक्त कवियों में रखा गया है। अपनी कविताओं में, उन्होंने विभिन्न स्तरों पर होने वाले अन्यायों के खिलाफ आवाज उठाई। उनकी कविताओं में शायद उनकी अभिजात्य पृष्ठभूमि के कारण अधिक बल था। वह एक राजपूत राजकुमारी थीं जो रत्नसिंह की एकमात्र संतान थीं जो मेड़ता के शासक के छोटे भाई थे। उनका विवाह 1516 में मेवाड़ के राजकुमार भोजराज के साथ हुआ था। उनके पति की मृत्यु 1521 में हो गयी थी और उसके बाद वह अपने पति के परिवारजनों के हाथों अत्यधिक उत्पीड़न का शिकार हुईं, विशेष रूप से उनके बहनोई के, जो उनके पति की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठे थे।

कहा जाता है कि भगवान कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति बचपन से ही विकसित हो गई थी। एक बच्चे के रूप में मीरा अपनी माँ को दुल्हे का अर्थ बताने के लिए मचलती थीं और उनके सवालों से बचने के लिए उसकी माँ जवाब देती थीं कि उनका दुल्हा भगवान कृष्ण थे। कहा जाता है कि मीरा ने इसे सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया था और वह कृष्ण की पति के रूप में आराधना करने लगी थीं। समय के साथ, उनका विश्वास मजबूत होता गया और एक अवस्था में उन्होंने स्वयं को पूरी तरह से प्रभु के साथ विलय कर लिया। यह पहलू उनकी शादी के बाद जटिल हो गया क्योंकि उन्होंने पारम्पारिक पारिवारिक नियमों का पालने करने से इन्कार कर दिया और घर से बाहर निकलकर मंदिरों में सार्वजनिक रूप गाने और नृत्य करने लगीं। उनका प्रतिरोध परम्पराओं के विरुद्ध नहीं था, लेकिन रूढ़िवादी प्रतिबन्धात्मक प्रथाओं के खिलाफ था जो महिलाओं के जीवन को विनियमित और नियंत्रित करने की कोशिश करती थीं। भक्ति और उनकी कविताएँ पौरुषतावादी विचारों को चुनौती देने के लिए एक साधन बन गईं। एक समय पर वह अपने वैवाहिक घर को छोड़कर मेड़ता में अपने मायके लौट गईं।

हालांकि उनके परिवार का झुकाव भी वैष्णववाद की तरफ था, लेकिन उन्होंने मीरा के भक्ति के तरीकों का विरोध किया जो उसे सड़कों पर ले आते थे। उनके इधर-उधर विचरण से उनकी भक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश कर गई। उन्होंने लगभग उन सभी स्थानों की यात्रा की जिन्हें कृष्ण के लिए पवित्र माना जाता था, लेकिन उन्हें जनता और यहाँ तक कि कई भक्तों की भी नाराजगी का सामना करना पड़ा। एक महिला भक्त होना आसान नहीं था क्योंकि महिलाओं को सबसे पहले उनके शरीर के माध्यम से देखा जाता था और इसलिए उनकी सुरक्षा और सम्मान के बारे में एक स्थायी चिंता बनी रहती थी। इस कारण, महिलाओं द्वारा अकेले यात्रा करना हमेशा एक जोखिम भरा मुद्दा माना जाता था। प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में कुछ महिला संतों ने इस मुद्दे का सामना किया। उदाहरणों में 12वीं सदी की कन्नड़ कवयित्री अक्का महादेवी और 14वीं सदी की कश्मीरी संत लाल डेड शामिल हैं, 15वीं शताब्दी में, गुरु नानक जैसे आध्यात्मिक पुरुष संतों ने भी महिला समानता के दावों का समर्थन किया और महिलाओं को केवल उनके लिंग के आधार पर एक निम्न स्थिति में धकेल देने के खिलाफ जमकर लिखा। आने वाली शताब्दियों में अन्य गुरुओं ने गुरु नानक द्वारा उठाये गये रूख का समर्थन किया और उनके विचार को और आगे बढ़ाया और उन्होंने दहेज, पृथकता और कन्या भ्रूण जैसी कुप्रथाओं के खिलाफ आवाज उठाई। इन सामाजिक क्रान्तिकारियों की तरह मीरा ने भी सभी प्रतिरोधों को विनीत भाव से संभाला और अपनी कविताओं के माध्यम से अपनी पितृसत्तात्मक समाज की अवज्ञा को जारी रखा।

उनकी कविताएँ मुख्य रूप से उनके जीवंत अनुभवों से ली गई हैं और उनमें उनके सुख-दुःख, भक्ति और विद्रोह की सरल अभिव्यक्तियाँ शामिल हैं। वह जानती थीं कि वह सीमाओं का उल्लघंन कर रही हैं लेकिन उन्होंने स्वयं पर विश्वास और ईश्वरीय आस्था पर भरोसा रखकर इसकी परवाह करना बन्द कर दिया था। उनकी कविताओं में उनकी निडरता स्पष्ट है, विशेष रूप से जिस तरह से उन्होंने उन्हें अभिव्यक्त किया और अपनी आंतरिक शक्ति को भाषा के माध्यम से दर्शाया। उनकी मुखरता उनके गीतों में अक्सर इस तरह के वाक्याशों में स्पष्ट झलकती है कि 'मैं करूँगी', 'मैं नहीं करूँगी', 'मैं करती हूँ', 'मैं हूँ' और 'मेरे पास है' (किश्वर एवं वनिता 1989: 82)। इस तरह की भाषा का उपयोग अपने आप में उनकी अभिव्यक्ति और अपने फैसलों के प्रति सार्वजनिक मत के प्रति उदासीनता की एक अभिव्यक्ति थी। मीरा ने ने केवल राजपूतों का उतनी ही वीरता से सामना किया जिसके लिए वे खुद जाने जाते थे बल्कि वह जनता के लिए महिला निडरता का प्रतीत बनी हुई हैं, तब, अब और आने वाले समय के लिए भी।

18.5.5 मध्यकालीन बंगाल में महिलाएँ

मध्यकालीन बंगाल के साक्ष्य, भले ही वे अपूर्ण हों, इंगित करते हैं कि महिलाओं के पास, विशेषकर उच्च वर्ग से आने वाली महिलाओं के पास, नेतृत्व की भूमिका निभाने के कई अवसर थे। पहाड़ी जन-जातियों के बीच उत्तरी क्षेत्र में यह अवसर सबसे अधिक थे जहाँ उल्लेखनीय रूप से समतावादी व्यवस्था कायम थी। 16वीं शताब्दी से पहले भी, हमारे पास इस क्षेत्र से तिरहुत की विश्वास देवी का प्रमाण है जो अपने पति के जीवन काल में सफलतापूर्वक राज्य-संरक्षक भी भूमिका निभाती हैं। अपनी प्रशासनिक क्षमताओं के साथ ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने गंगा की उपासना पर एक ग्रन्थ संकलित किया था। इसके बाद प्रसिद्ध दरबारी कवि विद्यापति द्वारा शिव की उपासना पर ऐसा ही एक ग्रन्थ संकलित करने का काम भी शुरू करवाया।

18वीं सदी के उत्तरार्ध में, कम ज्ञात चन्द्रप्रभा उत्तर-पूर्व की एक और रानी थीं जिन्होंने प्रभावी प्रशासन का प्रदर्शन किया और जो विद्या की संरक्षक थीं। चन्द्र प्रभा कछार (अब असम में) के ताम्रध्वज की पत्नी थीं जिन्होंने, जब उनके पति को एक प्रतिद्वन्द्वी द्वारा बन्दी बना लिया गया था, तब अपने पति के राज्य पर शासन किया था और बाद में अपने बेटे के राजा बनने से पहले राज्य-सरंक्षक के रूप में। रानी ने अपने राज्य में संस्कृत भाषा और संस्कृति के प्रसार को बढ़ावा दिया।

इस क्षेत्र के विद्वानों का तर्क है कि संस्कृत और देसी साहित्य में अपनी अभिव्यक्ति के साथ, चैतन्य के भक्ति आन्दोलन के प्रसार ने रानी के शासन काल के दौरान एक शक्तिशाली उत्तेजक के रूप में कार्य किया था जिससे निम्न जातियों की महिलाओं को भी पर्याप्त अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई। इस तरह के संरक्षण ने इस क्षेत्र में कई महिला शिक्षकों को आगे बढ़ाया। सोनाई की हतिविद्यालंकार का नाम इनमें प्रमुख है जो 18वीं सदी में पश्चिम वर्धमान में रहती थीं और उनका अपना संस्कृत विद्यालय था।

ऐसी गैर-कुलीन महिलाओं के बारे में हमारे प्रमाण निश्चित रूप से सीमित हैं। फिर भी, उपलब्ध सबूत टूटे-फूटे होने के बावजूद एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को दर्शाते हैं जिसमें पुरुष वर्चस्व के बावजूद महिलाएँ न तो वशीकृत थीं और न ही दब्बू थीं; और उन्होंने अपने प्रभाव (एजेंसी) को विभिन्न तरीकों से व्यक्त किया।

बोध प्रश्न-2

1) प्रारंभिक मुगलों के काल से लेकर अकबर के शासनकाल के शुरुआती दौर तक *हरम* के बदलते अर्थ को स्पष्ट कीजिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

2) उन तरीकों की चर्चा कीजिए जिनमें मुगल काल के दौरान अभिजात्य महिलाओं ने अपने धन का उपयोग किया था।

....

....

....

....

3) स्पष्ट कीजिए कि मध्यकालीन भारत के दौरान महिलाओं ने पितृसत्तात्मक सीमाओं को पार करने के लिए धर्म का उपयोग कैसे किया?

....

....

....

....

4) भारत में मुगल काल के दौरान महिलाओं की राजनैतिक सत्ता पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

5) मुगल भारत के साहित्य और वास्तुकला में महिलाओं के योगदान पर चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

18.6 सारांश

इस इकाई के माध्यम से आप समझ गये होंगे कि मध्ययुगीन भारत में महिलाओं की छिपी स्थिति के बारे में लोकप्रिय धारणा के विपरीत, इस अवधि में महिलाओं ने कैसे स्वयं को एक सक्रिय एजेंसी के रूप में अभिव्यक्त किया। दरअसल, पितृसत्ता और उससे जुड़े मानदंडों ने महिलाओं के आवागमन और गतिविधियों को प्रतिबंधित कर दिया गया था और सभी महिलाओं को स्वयं को या अपनी क्षमताओं को व्यक्त करने की सुविधा नहीं मिली। इसके अलावा लैगिंक सम्बन्ध जटिल और असमान रहे क्योंकि पुरुषों द्वारा अपनी शक्ति प्रदर्शित करने के लिए महिलाओं के नियंत्रण और विनियमन की कोशिश की गई। फिर भी अपने चारों ओर निर्मित सीमाओं के बावजूद कई महिलाएँ, राजनीति, अर्थव्यवस्था और सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में अपने लिए स्थिति और स्थान पाने में सक्षम रहीं और यहाँ तक कि उन्होंने अपनी विरासत की स्थाई संरचनाएँ भी छोड़ी हैं। इसके अतिरिक्त हमें यह भी याद रखना चाहिए कि सक्रिय प्रभावशाली (एजेन्ट) महिलाओं के रूप में या अदृश्य, नाममात्र के क्रियाशील कर्त्ता के रूप में पुरुषों की तरह मध्यकाल में भारत के निर्माण में महिलाओं का भी महत्वपूर्ण योगदान था।

18.7 शब्दावली

एजेंसी (Agency) : व्यक्तियों की कार्य करने की क्षमता और अपनी स्वयं की चयन करने की क्षमता

लिंग (Gender) : महिलाओं और पुरुषों की सामाजिक रूप से निर्मित विशेषताएँ। इसमें महिलाओं और पुरुषों के बारे में मानदंड, भूमिकाएँ और व्यक्ति और समूहों के बीच सम्बन्ध शामिल हैं। अलग-अलग

	समाजों में लिंग की भूमिकाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं जो विभिन्न संस्कृतियों में लिंग-सम्बन्धों की गतिशीलता को प्रभावित करती हैं
पितृ-सत्ता	एक सामाजिक व्यवस्था जिसमें पुरुष एक प्रमुख स्थान रखते हैं
बहु-विवाह (Polygyny)	एक आदमी का कई महिलाओं के साथ विवाह का प्रचलन
राज्य संरक्षक (Regent)	एक व्यक्ति जो एक राज्य के प्रशासन की देखरेख करता है जब कानूनी सम्राट एक नाबलिग हो या किन्हीं अन्य कारणों के कारण शासन करने में असमर्थ हो

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) देखिए भाग 18.2 और 18.3
2) अधिकांश स्रोत पुरुषों, पितृसत्ता या इससे सम्बन्धित विनिर्माणों द्वारा लिखे गये हैं। देखें भाग 18.1
3) भाग 18.3 देखें
4) भाग 18.4 देखें

बोध प्रश्न-2

1) भाग 18.4 देखें
2) व्यापार, साहित्य, धर्म, इमारतें उदाहरण के लिए। भाग 18.5 देखिए
3) भाग 18.5, उप-भाग 18.5.1, 18.5.2, 18.5.3, 18.5.5 देखिए
4) भाग 18.5.4 देखें
5) भाग 18.5 (इसके सभी उप-भाग) देखिए

18.9 संदर्भ ग्रंथ

अरोड़ा, शशि, (1984) 'द प्रेक्टिस ऑफ सेल ऑफ गर्ल्स एन्ड देअर पोज़िशन इन राजस्थान, 1700-1800 ए.डी.', *प्रोसीडिंगस ऑफ राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस,* बीकानेर सेशनः 33-45.

बालाबनलीलार, लीसा, (2010) 'द बेगमस ऑफ द मिस्टिक फीस्टः टर्को-मंगोल ट्रेडिशन इन द मुगल हरम', *द जरनल ऑफ एशियन स्टडीज,* 69 (1): 123-147.

बंगा, इन्दू, (2005) 'जेन्ड़र रिलेशन्स इन मेडिवल इंडिया', जे. एस. ग्रेवाल (संपा.) *द स्टेट एन्ड सोसाइटी इन मिडिवल इंडिया,* खंड VII, भाग I: 443-474 (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

बानो, शादाब, (2004) 'वुमेन स्लेवस इन मिडिवल इंडिया', *प्रोसीडिंग्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस,* 65 सेशन, बरेलीः 314-323.

बानो, शादाब, (2006) 'जहाँनारास एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ हर जागीर', *प्रोसीडिंग्स ऑफ इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस,* 66वां सेशन, शान्तिनिकेतनः 157-163.

ब्लेक, स्टीफन, (1998) 'कन्ट्रीब्यूटरस टू द अरबन लैंडस्केपः वूमेन बिल्डर्स इन सफविद इस्फहान एन्ड मुगल शाहजहाँनाबाद', जी. आर. जी. हेम्बली (संपा.) *वूमेन इन द मिडिवल इस्लामिक वर्ल्डः पावर, पेट्रोनेज एन्ड पाइटी,* पृ. 407-428, (न्यूयार्कः सेंट मार्टिन्स प्रेस).

चैटर्जी, इन्द्राणी एवं रिचर्ड एम. ईटन, (संपा.) (2006) *स्लेवरी एन्ड साउथ एशियन हिस्ट्री* (ब्लूमिंगटन, इंडियानाः इंडियाना यूनिवर्सिटी प्रेस).

चैटर्जी, रत्नाबली, (2001) 'सेक्शनल प्रेसिडेन्टस एडरैसः 'वेल्ड एन्ड अनवेल्डः वुमेन इन मिडिवल बंगाल', *प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री काग्रेंस*, 62 सेशन, भोपालः 160-179.

फेल्डहौस, एनी, (संपा.) (1993) *इमेजेज़ ऑफ वूमेन इन महाराष्ट्रा सोसाइटी* (न्यूयार्कः अल्बानी).

फिन्डली, एफ. बी., (1993) *नूरजहाँः एम्प्रेस ऑफ मुगल इंडिया* (न्यूयार्कः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

गब्बे, एलिसा, (2011) 'इन रियेलिटी ए मेनः सुल्तान इल्तुतमिश, हिज डॉटर, रजिया एन्ड जेन्डर एम्बीग्विटी इन थटीन्थ सेन्चुरी नार्थन इंडिया', *जनरल ऑफ पर्शिएनेट स्टडीज,* 4: 45-63.

गोल्डन, रमर, (1980) *गुलबदनः पोट्रेट ऑफ रोज प्रिंसेज एट द मुगल कोर्ट* (न्यूयार्कः वाइकिंग प्रेस).

हबीब, इरफान, (2000) 'एक्सप्लोरिंग मिडिविल जेन्डर हिस्ट्री', *प्रोसीडिंग्स ऑफ इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेसः* सिम्पोज़िया पेपरर्स, 61 सेशन, कालीकट.

हबीब, इरफान, (1969) 'द फेमिली ऑफ नूरजहाँ डयूरिंग जहाँगीर्स रेन', *मिडिवल इंडिया, ए मिसलेनी, भाग* I (न्यूयार्कः एशिया पब्लिशिंग हाउस).

हेम्बली, गेविन आर. जी., (1998) *वूमेन इन द मिडिवल इस्लामिक वर्ल्ड* (न्यूयार्कः सेंट मार्टिन्स प्रेस).

हरलन, लिन्डसे, (1992) *रिलीजन एन्ड राजपूत वूमेनः द एथिक ऑफ प्रोटेक्शन इन कन्टम्परेरी नेरेटिव्स* (बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ केलीफोर्निया प्रेस).

हसन, फरहत, (2005) 'वूमेन, किन एन्ड शरीआ', *स्टेट एन्ड लोकेलिटी इन मुगल इंडियाः पावर रिलेशन्स इन वेस्टर्न इंडिया, सी. 1572-1730* (केम्ब्रिजः केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस), 71-90.

जेक्सन, पीटर, (1998) 'सुल्तान रज़िया बिन्त इल्तुतमिश', गेविन हेम्बली, (संपा.) *वूमन इन द मिडिवल इस्लामिक वर्ल्डः पावर, पेट्रोनेज एन्ड पाएटी* (न्यूयार्कः सेंट मार्टिन्स प्रेस), पृ. 181-197.

जहाँ, फरहत, (2012) *डिपीक्शन ऑफ वूमेन इन द सोर्सेज ऑफ द दिल्ली सल्तनत* (डॉक्टोरल डेज़रटेशन, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी), रीट्रीव्ड फ्राम https://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/12965

जोशी, वर्षा, (1995) *पोलिगेमी एन्ड पर्दाः वूमेन एन्ड सोसाइटी अमंग राजपूत्स* (जयपुरः रावत पब्लिकेशन्स).

खन्ना, प्रियंका, (2017) 'द फीमेल कम्पेनियन इन ए वर्ल्ड ऑफ मेनः फ्रेन्डशिप एन्ड कानकूबाइनेज़ इन लेट एटिंन्थ-सेन्चूरी मारवाड़', *स्टडीज इन हिस्ट्री,* 33 (1), 98-116.

खन्ना, प्रियंका, (2019) 'सर्विस, सेक्स एन्ड सेन्टीमेन्टसः कानकूबाइनेज़ इन द अर्ली मॉर्डन राजपूत हाउसहोल्ड आफ मारवाड', नितिन सिन्हा, नितिन वर्मा एवं पंकज झा, (संपा.) *सर्वेन्टस पास्ट, 16-20 सेन्चूरी,* भाग I: 197-226 (न्यू दिल्लीः ओरियन्ट ब्लैकस्वान).

खन्ना, सुमन, (1973) 'जनानी ड्योढ़ी ऑफ राजस्थान एन्ड इट्स ऑरगनाइजेशन', राजस्थान *हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीड़िंग्स,* भाग VI, बीवर सेशन, पृ. 53-59.

किश्वर, मधु एवं रूथ वनिता, (1989ए) 'पॉयज़न टू नेक्टर, द लाइफ एन्ड वर्क ऑफ मीराबाई', *वूमेन भक्ता पोयट्स, मानुषी,* 50-52: 75-93.

लाल, रूबी, (2005) *डोमेस्टीसिटी एन्ड पॉवर इन द अरली मुगल वर्ल्ड* (केम्ब्रिजः केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस).

मार्टिन, नेन्सी, (2000) 'मीराबाई इन द अकेडमी एन्ड द पॉलिटिक्स ऑफ आइडेन्टिटी', एम. बोस (संपा.), *फेसेस ऑफ द फेमिनाइन इन एनशियेन्ट, मिडिवल एन्ड मॉर्डन इंडिया* (न्यूयार्कः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), पृ. 162-182.

मिर्ज़ा, मोहम्मद वाहिद, (1974) *द लाइफ एंड वर्क्स ऑफ अमीर खुसरो* (दिल्लीः इदारह-ए अदबियात-ए दिल्ली)

मिसरा, रेखा, (1967) *वूमेन इन मुगल इंडिया, 1526-1748 ए.डी.* (दिल्लीः मुन्शीलाल मनोहरलाल).

मुखर्जी, सोमा, (2001) *रॉयल मुगल लेडिज एन्ड देअर कन्ट्रीब्यूशन्स* (नई दिल्लीः ज्ञान बुक्स).

नन्द, लोकेश चन्द्रा, (1989) *वूमेन इन दिल्ली सल्तनत* (इलाहाबादः वोहरा पब्लीशरस).

नाथ, रेनूका, (1990) *नोटेबल मुगल एन्ड हिन्दू वूमेन इन द 16 एन्ड 17 सेन्चूरीज़ ए.डी.* (नई दिल्लीः इन्टर-इंडिया पब्लिकेशनस).

ओ'हेनलन, रोज़ालिंड, (2007) *'किंगडम, हाउसहोल्ड एन्ड बॉडीः जेन्डर एन्ड द कन्सट्रकशन ऑफ इम्पीरियल सर्विस अन्डर अकबर', मॉर्डन एशियन स्टडीज,* 41 (5): 889-923.

प्रसाद, पुष्पा, (1988-89) 'फीमेल स्लेवरी इन 13 सेन्चूरी गुजरातः डाक्यूमेन्टस इन द *लेखापद्धति', इंडियन हिस्टॉरिकल रीव्यू,* 15 (1-2): 269-275.

रामास्वामी, विजया, (1997) *वॉकिंग नेकड़ः वूमेन, सोसाइटी, स्पिरिच्यूएलिटी इन साउथ इंडिया* (शिमलाः आई आई ए एस).

शर्मा, करूणा, (2009) 'ए विजिट टू द मुगल हरमः लाइव्स ऑफ रॉयल वूमेन', *साउथ एशियाः जरनल ऑफ साउथ एशियन स्टडीज,* भाग XXXII (2): 155-169.

शिमेल, एनेमारि, (2005) *'द एम्पाअर ऑफ द ग्रेट मुगल्सः हिस्ट्री, आर्ट एन्ड कल्चर'* (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

सिंह, दिलबाग, (2003) 'रेगूलेटिंग द डोमेस्टिकः नोट्स ऑन द प्री-कोलोनियल स्टेट एन्ड फेमिली', *स्टडीज इन हिस्ट्री,* 19 (1), 69-86.

श्रीनिवासन, रमैया, (2007) *द मेनी लाइफस ऑफ राजपूत क्वीनः हिरोइक पास्ट्स इन इंडिया सी. 1500-1900* (सीऐटलः यूनिवर्सिटी ऑफ वाशिगंटन प्रेस).

टैलबॉट, सिंथिया, (1995) 'रूद्रमा देवी – द फिमेल किंगः जेन्डर एन्ड पॉलिटिकल अथॉरिटी इन मिडिवल इंडिया', डेविड शुलमैन (संपा.), *सिलेबल्स ऑफ स्काईः स्टडीज इन साउथ इंडियन सिविलाइज़ेशन इन ऑनर ऑफ वेल्चेरू नारायना राव* (दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस).

पीडीएफ

https://www/sahapedia.org/women-patrons and the making of shahajanabad.

18.10 शैक्षणिक वीडियो

वन्स अपॉन ए सुल्तान
https://www.youtube.com/watch?v=PpcW1KIpYjo&t=1249s

स्टोरी ऑफ नूरजहां, द मोस्ट पावरफुल वोमन ऑफ मुगल इरा – (बीबीसी हिन्दी)
https://www.youtube.com/watch?v=61griQIxNdc&t=32s

IGNOU SOCIAL MEDIA

QR Code generated for quick access by Students

IGNOU website

eGyankosh

e-Content APP

Facebook (@offical Page IGNOU)

Twitter (@ Offical IGNOU)

Instagram (official page ignou)

QR Code -website ignou.ac.in

QR Code -e Content-App

QR Code - IGNOU-Facebook (@OfficialPageIGNOU)

QR Code Twitter Handel (OfficialIGNOU)

INSTAGRAM (Official Page IGNOU)

QR Code -e Gyankosh-site

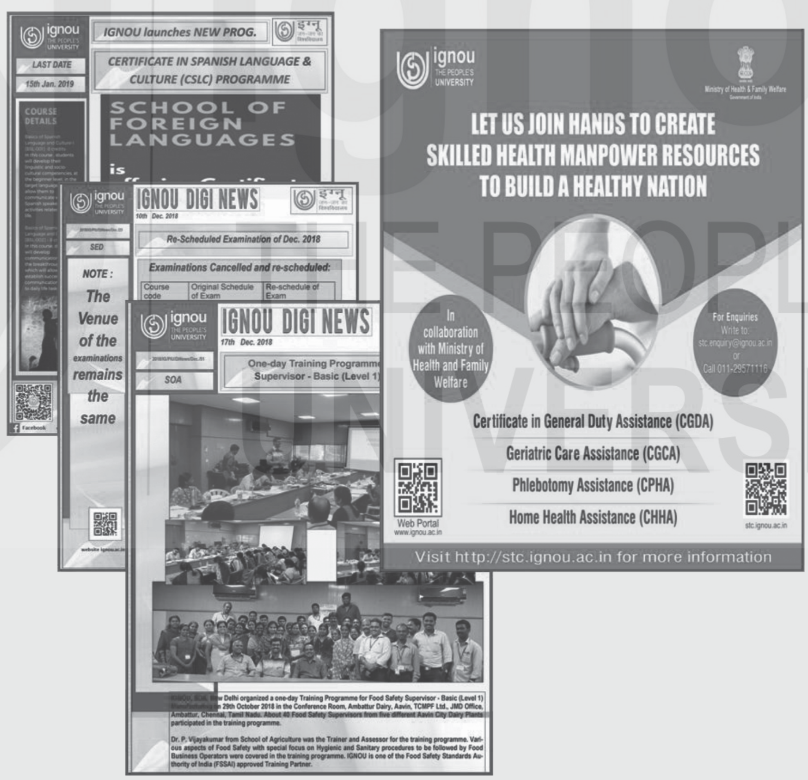

Like us, follow-us on the University Facebook Page, Twitter Handle and Instagram

To get regular updates on Placement Drives, Admissions, Examinations etc.

MPDD/IGNOU/P.O. 80K/ February, 2021

ISBN: 978-93-90773-85-5